॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

परमर्षि श्री जिन मण्डन गणि विरचित

श्राद्धगुण विवरण

(पहला भाग)

ट्रैक्ट नं० ७०

अनुवादक—

पन्यास श्रीमोहनविजयजी महाराज

प्रकाशक—

मंत्री-श्रीआत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर ।

वीर संवत् २४५०	प्रति १०००	विक्रम संवत् १९८१
आत्म संवत् २९	मूल्य =)॥	ईस्वी सन् १९२४

दो शब्द ।

प्रिय पाठक वृन्द !

परमर्षि श्री जिन मण्डन गणि विरचित श्राद्ध गुण विवरण का हिन्दी अनुवाद (मुनि महाराज श्री चतुर्विजयजी के गुजराती अनुवाद का उल्था) आज आपके सामने उपस्थित करते हुए आप से यह निवेदन करना है कि श्रावक के ३५ गुणों में से इस पहले भाग में केवल १ ला गुण वर्णन किया गया है । शेष ३४ गुणों का विवेचन भी क्रमशः ट्रैक्टों के रूप में छपवा दिया जायगा । अतः आप इसे संभालकर रखें जिससे बाकी भाग छप जाने पर आप समग्र पुस्तक के अनुवाद का रसास्वादन कर सकें ।

हमें पन्यास श्रीसोहनविजय जी महाराज के आभारी हैं जिन्होंने इतना परिश्रम करके हिंदी भाषा भाषी सज्जनों तक इस ग्रंथरत्न को पहुंचाने की चेष्टा की है । एवं बीकानेर निवासी सेठ शिवचंद सुमेरमलजी सुराणा से भी कृतज्ञता प्रगट करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं जिनकी आर्थिक सहायता से यह ग्रंथ छपा है । आपका यह कार्य अनुकरणीय है ।

निवेदक—

मंत्री

श्री सर्वज्ञाय नमः।
श्रीमद्विजयानन्दसूरीश्वरपादपद्मेभ्यो नमः।

श्राद्धगुण विवरण

प्रणम्य श्रीमहावीरं, केवलज्ञानभास्करम्।
वच्मि कञ्चन सुश्राद्ध-धर्मं शर्मैक कारणम् ॥१॥

अर्थ—केवल ज्ञान के द्वारा सूर्य के समान श्रीमान् महावीर स्वामी को नमस्कार कर सुखका एक (अद्वितीय) कारण-रूप शुद्ध-श्रावक धर्म का किञ्चिन्मात्र (संक्षेप रूपसे) वर्णन करता हूँ।

विवेचन—

भगवान् निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र ने मोक्ष के साधन के लिए दो प्रकार के धर्मों का कथन किया है।

१ मुनिधर्म और २ गृहस्थधर्म, इन दो प्रकार के धर्मों में से ग्रन्थकर्त्ता श्रीजिनमण्डन गणिजी साधुधर्म को गौणतया रख कर प्रथम मकान की नींव के समान गृहस्थ धर्म का ही वर्णन

करने की प्रतिज्ञा करते हैं, क्योंकि गृहस्थधर्म साधुधर्म से सरल तथा सुसाध्य है। गृहस्थ धर्म भी दो प्रकार का है—एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य धर्म तो मार्गानुसारी के ३५ गुण हैं और विशेष धर्म सम्यक्त्व मूलक १२ व्रत हैं।

जब तक सामान्य धर्म की प्राप्ति नहीं हो तब तक विशेष धर्मका स्वीकार ही नहीं होसकता है। क्योंकि सामान्य ज्ञान के पश्चात् ही विशेष ज्ञान होता है। जैसे कि एक अंक का ज्ञान होने पर ही एक दो इत्यादि अंकोंका ज्ञान होता है, इसीलिये ग्रंथकर्त्ता ने साधुधर्म और गृहस्थ के विशेष धर्मको छोड़कर प्रथम मार्गानुसारी के ३५ गुणरूप गृहस्थ के सामान्य धर्म को ही कहा है। यद्यपि उपासक दशांग सूत्र, श्रावक प्रज्ञप्ति, श्रावकविधिप्रकरण, श्रावक दिन कृत्य, धर्मरत्न, योगशास्त्र तथा धर्मबिन्दु आदि अनेक ग्रंथों में गृहस्थ के गुणों का वर्णन अति विस्तार पूर्वक किया है; तथापि इस कालके मनुष्यों की पूर्वोक्त ग्रंथों के देखने की अल्प शक्ति होने से और ज्ञानशक्ति व धारणाशक्ति के न्यून होने से भव्य जीवों पर उपकार कर जिनमण्डनगणि जी ने संक्षिप्त रचना की, कि जिससे अल्प समय में ही भव्यजीव प्रति बोध को प्राप्त हों।

जयश्रीसिद्धिदः साध्यो गुरुमन्त्रोद्भवंत्रवत्।
सान्वर्थः सात्विकैर्धर्मो विधिपूर्वकश्रावकोत्तमैः॥

अर्थ—सात्विक और विवेकी उत्तम श्रावकों को जपश्री की सिद्धि को देनेवाले और सान्वर्थ यथा नाम तथा गुणवाले धर्म का गुरु के कहे हुए शुद्ध मन्त्र की भांति साधन करना उचित है।

विवेचन-इस संसार में मनुष्य धन धान्यादिक इच्छित वस्तुओं और दिव्य शक्तियों को प्राप्त करने के लिये सद्गुरु की सेवा करता है, और गुरु उस की सेवासे प्रसन्न होकर शिष्य की योग्यता के अनुसार आशा को पूर्ण करने के लिए मन्त्र देता है; मन्त्र को प्राप्त करके शिष्य उस मंत्र की आराधना करता है, और पूर्ण आराधना होने पर आराधक अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त कर सुख का अनुभव करता है।

ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि हे भव्य प्राणियो! यदि तुम्हें मुक्ति का सुख चाहिए तो तुम गुरूक्त मंत्र की तरह श्रद्धा भक्ति-पूर्वक धर्म का आराधन करो कि जिस से तुम्हें अविनाशी आत्मिक सुख की प्राप्ति हो। कहने का तात्विक कारण यह है कि, जिस प्रकार मंत्र की आराधना करते समय अनेक उपसर्ग होते हैं उस समय निःसत्व प्राणी की तरह मनुष्य को घबराना नहीं चाहिए। जैसे कामदेवादि को धर्मभ्रष्ट करने के लिए देवताओं ने अनेक उपसर्ग किये, परन्तु वे महानुभाव ऐसे दृढ़चित्त रहे कि उनका एक रोममात्र भी धर्म से चलायमान नहीं हुआ, और अन्त में वे सद्गति के भागी हुए। इसी प्रकार यदि तुम भी दृढ़ चित्त से

धर्म की आराधना करोगे तो तुम को भी कामदेवादि की तरह सद्गति मिलेगी, और क्रम से थोड़े ही समय में मुक्ति का सुख भी प्राप्त हो जायगा। यदि कोई यह कहे कि सात्त्विकत्व लाने से नहीं आता तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के अनन्त गुण हैं जो उपाधि-कर्मवश तिरोभाव हो गये हैं अर्थात् दबे हुए हैं, वे सब पुरुषार्थ करने से अपनी योग्यता के अनुसार प्रकट होते जाते हैं।

इसलिये जब कभी कोई उपसर्ग आवे तब ऐसा विचार करना चाहिए कि पुरुषार्थी सात्त्विक मनुष्य ही धर्म को साध सकता है, और पुरुषार्थ मुझ में भी है तो मुझे भी उचित है कि प्राणान्त उपसर्ग के आने पर भी धर्म को न छोड़ूं।

पुरुषार्थ का साधन करने वाले को साथ में यह भी विचार की जरूरत है, प्राचीन समय में महर्षि और श्रावकोंने कैसी दृढ़त से धर्म का आराधन किया है देखो इन्होंने अपने प्राणों को भ त्याग दिया, परन्तु धर्मका परित्याग नहीं किया। मेरा आत्म स्वरू भी उन्हीं आत्माओं के सदृश है। ऐसा विचार कर सात्त्विक भा का अवलम्बन करे और निस्सत्त्व भाव को सर्वथा स्वीकार करे विवेक के बिना धर्म नहीं हो सकता है तथा आत्मज्ञान के बि सम्यक्त्व नहीं और जब चौथा गुण सम्यक्त्व स्थान ही प्रा नहीं हुआ तो श्रावक के पांचवें गुण स्थान की तो बात ही कह

अतएव सत् और विवेक को उत्पन्न करने के लिए शास्त्राभ्यास और सद्गुरु का सेवन करना तथा जड़ और चैतन्य के स्वरूप को समझ कर अपने कर्त्तव्य को विचार करना योग्य है । इस प्रकार विचार करने से स्वयं समझ में आजायगा कि महाराज का बताया हुआ जयश्री सिद्धिको देनेवाला धर्म शुद्ध मंत्र की तरह आराधन करने योग्य है ।

परलोक हियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।
अइतिव्व कम्म विगमासुवक्को सो सावगो एत्थ ॥१॥

अथवा

श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं धनं वपेदाशु वृणोति दर्शनम् ।
कृंतत्य पुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः२।

अर्थ—जो उपयोग पूर्वक परलोक में हितकारी जिनेश्वरदेव के वचनों को भली प्रकार से सुने, और अति तीव्र कषायों से रहित हो उसी को श्रावक कहते हैं । और ऐसे श्रावक का ही यहां पर अधिकार है । जो श्रद्धालुता को दृढ़ करे, जिनेश्वर भगवान् की सात क्षेत्रों में आज्ञा को सुने, धन को शुभ कार्यों में व्यय करे, सम्यक्त्व से युत हो पापों का नाश करे, संयम को साधे और मन-इन्द्रियों को वश में करे उसीको विचक्षण पुरुष श्रावक कहते हैं ।

विवेचन–शास्त्रों में चार प्रकार के श्रावक कहे हैं। एक **नामश्रावक**, दूसरा **स्थापनाश्रावक**, तीसरा **द्रव्यश्रावक** और चोथा **भावश्रावक** है। जो कुल परम्परा से श्रावक होता आया हो, जब तक व्रत और नियमको अंगीकार न करे, तब तक नाम श्रावक कहे जाते हैं, अथवा जिस किसी का नाम श्रावक हो वह भी **नाम श्रावक** कहा जाता है।

स्थापना श्रावक दो प्रकार के होते हैं क्योंकि स्थापना दो प्रकार की है। एक सद्भाव स्थापना और दूसरी असद्भाव स्थापना। अकारादि सहित श्रावक की मूर्ति को सद्भाव स्थापना कहते हैं, और अकार रहित किसी एक वस्तु में जो श्रावकत्व का स्थापन किया जाता है उसे असद्भाव स्थापना कहते हैं जैसे– छोटे बच्चे लाठी को घोड़ा बना कर उस पर सवार होकर दौड़ते हैं।

द्रव्यश्रावक वह है–जो आगामी काल में व्रत–नियम को लेगा।

भाव श्रावक वह है–जो सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों के सहित पंचमगुण स्थानवर्ती हो। इन चार प्रकार के श्रावकों में से इस ग्रंथ में मुख्यतया भावश्रावक का ही अधिकार वर्णन किया गया है। ग्रन्थकर्ता ने प्रथम विशेषण "उपयोग पूर्वक सुनने वाला"

यथार्थ ही दिया है। क्योंकि उपयोग शून्य होकर मोटे २ अनेक ग्रन्थों के सुनने से भी कार्य सिद्धि नहीं होती है और उपयोग पूर्वक थोड़ा-सा भी सुनकर उसका मनन कर हेयो पादेय का विचार कर जो श्रावक तदनुसार वर्ताव करे वह अल्प समय में ही तत्व प्राप्ति पूर्वक परम शांति को प्राप्त कर भव भ्रमण से छूट सकता है।

वर्तमान काल में पढ़ने और सुनने वाले बहुत होते हैं। परंतु वे उपयोग पूर्वक पाठ और श्रवण नहीं करते। अतः यथोक्त सिद्धि नहीं होती है। इसीलिए प्रथम उपयोग पूर्वक सुनने का गुण श्रावक वर्ग को अवश्यमेव धारण करना चाहिए।

दूसरा विशेषण 'तीव्र कर्मों से रहित हो' ऐसा दिया है यह भी यथार्थ ही है, क्योंकि जो अनंतानुबन्धी कषायों अर्थात् मान माया और लोभ का तथा अप्रत्याख्यानी कषायों अर्थात् क्रोध-मान, माया और लोभ का नाश करने वाला हो, अथवा जो इन कर्मों के करने से जिन रौद्र (भयानक) परिणाम न हो वैसे कार्य करने वाला भी हो उसको श्रावक कह सकते हैं।

"श्रद्धा को दृढ़ करे" अर्थात् सम्यक्त्ववान् हो, अथवा देव, गुरु और धर्मकी अनेक प्रकार से परीक्षा करे। शुद्ध देव, गुरु और धर्म पर अन्तःकरण से दृढ़ श्रद्धा रक्खे। क्योंकि धर्म का

मूल ही श्रद्धा है। श्रद्धा, सम्यक्त्व, दर्शन ये तीनों एक ही हैं। जब तक प्राणी को सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है, तबतक ही इसके लिये अनन्त संसार है, और जब प्राणी दो घड़ी भर भी शुद्ध देव-गुरु और धर्म पर श्रद्धा करता है तब इसका अनन्त संसार मिट जाता है और यह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। कहा भी है कि:—

अंतो मुहुत्त मित्तंपि–फासियं जेहि हुज्ज सम्मत्तं।
ते सि अवड्ढ पुग्गल परियट्टोचेव संसारो ॥१॥

भावार्थ–जिस जीवको दो घड़ी भी सम्यक्त्व स्पर्श कर गया है, उस जीवको मोक्ष जाने में आधा पुद्गल परावर्तन बाकी रहा है इसलिये श्रावक को दृढ़ सम्यक्त्व प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रकार की श्रद्धा शास्त्रों के श्रवण करने से होती है, इसलिए उपयोग पूर्वक भगवान् के वचनों का निरन्तर श्रवण करे, और इस तरह निरन्तर जिनेश्वर देव की वाणी सुनने से संसार की असारता और लक्ष्मी की चञ्चलता को जानकर पूर्व पुण्य से प्राप्त हुए धन को शुभ क्षेत्रों में लाभादि की अपेक्षा न कर लाभा-लाभ ही देखकर लगावे, जब पूर्वोक्त स्थिति को प्राप्त हो तब ही प्राणी को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ जानना चाहिये और जब सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होगई तो फिर पापों का स्वयमेव नाश हो जाता है और इन्द्रियां तथा मन थोड़े ही परिश्रम से वश में

हो जाते हैं इस से 'संयम क्रिया करने वाला हो' यह विशेषण भी सार्थक होता है। विचक्षण पुरुष ऐसे गुण वाले ही को श्रावक कहते हैं, अर्थात् शास्त्रकारों ने श्रावक शब्दका किस प्रकार अर्थ घटाया है यह न दिखाकर श्रावक शब्द को सार्थक धारण करने वाले मनुष्यों को उसी प्रकार की प्रवृत्तिके द्वारा श्रावक शब्द को चरितार्थ करना चाहिए। 'निरुक्तं पद भञ्जनम्' पदको तोड़ कर एकएक अक्षरका अर्थ करना निरुक्त कहलाता है। यह निरुक्ति प्रक्रिया प्रायः बहुत शास्त्रों में है। श्री आवश्यक सूत्र की निरुक्ति में चौदह पूर्वधर श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी ने मिच्छामि दुक्कडं का अर्थ एक २ अक्षर का पृथक् २ किया है। मनुस्मृति में मांस शब्द का अर्थ भी इसी रीति से किया है, इसी रीति से इस शास्त्र-कारने भी श्रावक शब्द का अर्थ इस शास्त्र में किया है:—

"श्रद्धालुतां श्राति" अर्थात् जो श्रद्धा को पकावे उस को 'श्रा' कहते हैं धनेवपेत' सात क्षेत्रों में जो अपने न्यायोपार्जित धन को व्यय करे उसको "व" कहते हैं। कंतत्य पुण्यानि जो पाप का छेदन करे उसको 'क' कहते हैं। इन तीन अक्षरों के किये हुए अर्थ से युक्त जो व्यक्ति हो वह श्रावक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धापूर्वक सात क्षेत्रों (श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी, ज्ञान-मंदिर और भगवद्देव की प्रतिमा में, अपने न्याय से कमाये हुए धन को जो खर्च करके पाप का नाश करे उसको

पंडितजन श्रावक कहते हैं।

अथवा 'शृणोति शासनम्' जो हितकारी भगवद्वचन को सुने उसको श्रा कहते हैं।

"वृणोति दर्शनम्" जो सम्यक्त्व को अंगीकार करे उसे 'व' कहते हैं।

"करोति संयमम्" जो संयम, क्रिया, व्रत, नियम को अंगीकार करे उसे "क" कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो देव के वचनों को सुन सम्यक्त्व को प्राप्त कर यथायोग्य व्रत नियमादि को करे उसको विचक्षण पुरुष श्रावक कहते हैं।

श्रावक शब्द का दूसरा लक्षण।

स्रवन्ति यस्य पापानि पूर्वबद्धान्यनेकशः।
आवृतश्च व्रतैनित्यं श्रावकः सोऽभिधीयते ॥१॥

अर्थ—जिसका पूर्व में अनेक प्रकार से बांधा हुआ पाप जाता रहे (नष्ट हो जावे) और जो सर्वदा व्रतों से युक्त हो वह श्रावक कहलाता है।

विवेचन—कर्मों का क्षय दो प्रकार से होता है, एक तो बंधे हुए कर्मको भोग लेने से दूसरे प्रत्याख्यान, तीव्र तपस्या, ज्ञान और ध्यानादि से कर्म का क्षय होता है। श्रावक पूर्व जन्म में बांधे हुए पापों को ऊपर कहे हुए प्रकार से आत्म प्रदेश से दूर करता है और नया पाप न बाँधा

जाय, इस हेतु निरंतर अपनी योग्यता के अनुसार व्रत और नियमादि को करता है इसीलिये ऐसे गुणवाला ही श्रावक कहा जाता है।

श्रावक धर्म कैसा है ?

सुदेवत्व मानुषत्वयतिधर्मप्राप्त्यादि क्रमेण।
मोक्षसुखदायकत्वेन सुमरु रूपमानो योग्येभ्य एव दातव्यः॥

अर्थ–सुदेवपन व मानुषत्वपन और यतिधर्म की प्राप्ति आदि क्रमानुसार मोक्ष के सुख को देने वाले होने से जो धर्म कल्पवृक्ष की उपमा के योग्य है वह योग्य पुरुष को ही देना चाहिये क्योंकि कहा है कि–

जं सिव हेऊ सावय धम्मो वि कमेण सेविओ विहिणा।
तम्हा जुग्गजियाणं दायव्वो धम्मरसियाणं ॥१॥

अर्थ–विधि पूर्वक सेवन किया हुआ श्रावक धर्म भी क्रम से मोक्ष का हेतु होता है, इसलिए श्रावक धर्म के विषय में रसिक योग्य पुरुषों को ही श्रावकधर्म का प्रदान करना चाहिये।

विवेचन–"श्रावक-धर्म किसी अयोग्य व्यक्ति को नहीं देना चाहिये" यह ग्रन्थकर्ता का आशय है क्योंकि धर्म-रत्न जैसी अमूल्य वस्तु योग्यायोग्य का विचार किये बिना हर एक को कैसे दी जा सकती है।

श्रावक धर्म से श्रेष्ठ मुनि धर्म तो योग्यायोग्य विचारकर सुपात्र पुरुष को ही देना उचित है।

धर्मोपदेश के समय तीन बातें योग्य होनी चाहियें।

जुग्गेजियाणं विहिणा जुग्गेहिं गुरूहिं देसिश्रो सम्मं।
जुग्गो धम्मो वि तहा सयलिद्धिपसाहगो भणिश्रो॥१॥

अर्थ-योग्य जीवों को योग्य गुरुओंने विधि पूर्वक (भले प्रकार से) जिस योग्य धर्म का उपदेश दिया है वही (धर्म) सर्व-प्रकार की सिद्धियों के देने वाला कहा गया है।

विवेचन--'योग्य जीव' पद से इस ग्रन्थ में आगे कहे हुए गुणों वाले योग्य जीवों को समझना चाहिये कदाचित् शास्त्रोक्त गुण विशिष्ट लक्षण संपन्न जीव मिले, परंतु यदि धर्मोपदेष्टा गुरु-क्रियाहीन शिथिलाचारी, परिग्रहधारी, विषयी और असत्यवादी आदि दुर्गुणी हो तो उससे धर्म का उपदेश ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि पूर्वोक्त गुरु से ग्रहण किया हुआ धर्म यथार्थ फल-दायी नहीं होता है। इसलिये गुरुभी योग्य होना चाहिये। योग्य धर्म जो कहा है वह धर्म ग्रहण करने वाले की अपेक्षा ग्राहक शक्ति के अनुसार दिया जाना चाहिये। अर्थात् जीवों में धर्म पालन करने की जैसी योग्यता हो वैसा ही उनको धर्म बताना चाहिये। जिससे वह करी हुई प्रतिज्ञा का पालन पूर्णरूप से

कर सके। योग्यता का विचार किये विना यदि उपयोगी भी व्रत और नियमादि दिये जांय तो व्रत और नियमादि को ग्रहण करने वाले प्राणी का मन पीछे से व्याकुल हो जाता है और वह की हुई प्रतिज्ञा के भंग होने से दोष का भागी होता है। कित्र कभी ऐसा भी अवसर आ जाता है कि वह धर्म को छोड़ अधर्म की ओर प्रवृत्त हो जाता है, इसलिए योग्य गुरुओं को चाहिये कि वे जीवों की योग्यता को देख कर उनको उचित धर्म का कथन करें। क्योंकि अयोग्य पुरुषों को दिया हुआ धर्म विशेष फलदायी नहीं होता। कहा भी है कि—

चूतांकुरकबलनतः कोकिलकः स्वनति चारु नतु काकः।
योग्यस्य जायते खलु हेतोरपि नेतरस्य गुणः ॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार कोयल आम की मंजरी खाकर सुन्दर-शब्द करती है किन्तु कौआ नहीं करता है उसी प्रकार योग्य को ही उपदेश से लाभ होता है, किन्तु अयोग्य को नहीं होता है।

विवेचन—आमकी मंजरी कोयल भी खाती है और काग भी खाता है परन्तु कोयल का आम्र मंजरी खाने से स्वर सुस्वरता है, और सुन्दर पंचम स्वर से समस्त वन को गुंजा देती है और श्रवण करनेवाले को आनन्दित करती है वैसे ही काग भी यद्यपि आम की मंजरी खाता है परन्तु उसके स्वर में मधुरता

नहीं आती है, अर्थात् कठोरता ही बनी रहती है, अतः सुनने वाले को वह कटु ज्ञात होता है। यद्यपि मंजरी की स्वर के सुधारने की सामर्थ्य जगद्विख्यात है तौभी वह अपात्र में पड़ने से निष्फल होती है। इसी प्रकार धर्म में भी ऐहिक और पारलौकिक सुख देने की शक्ति है, तथापि अपात्र में दिया हुआ धर्म निष्फल होजाता है, इसलिये पात्रापात्र का विचार करना आवश्यक है। योग्यायोग्य के लिये ग्रन्थकर्त्ता स्वयं दृष्टान्त देंगे, इसलिये यहां इतना ही लिखना उपर्युक्त है। योग्यता अनेक प्रकार की है।

आम्रे निम्बे सुतीर्थे कचवर निचये शुक्ति मध्येऽहिवक्त्रे
औषध्याद्यौ विषद्रौ गुरुसरसि गिरौ पाण्डुभू कृष्णभूम्योः।
इक्षुक्षेत्रे कषायद्रुम वन गहने मेघमुक्तं यथाम्भ
स्तद्वत्पात्रेपृदानं गुरु वदन भवं वाक्यमायाति पाकम्॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार वर्षा का पानी आम में, नीम में, उत्तम तीर्थों में, कूड़े (कचरा) में, सीप में, सर्प के मुख में, औषधि आदि में, विषैले वृक्ष में, बड़े तलाब में, पहाड़ में पीली तथा काली जमीन में, सेलड़ी (गन्ने) में कडवे वृक्ष के गहन वन में, पड़ने से भिन्न २ प्रकार के परिपाक को प्राप्त होता है, उसी प्रकार मुख से निकले हुए वाक्य शिष्य की योग्यता के अनुसार पृथक् २ फल देते हैं।

विवेचन—बादल से गिरा हुआ पानी यद्यपि एक ही स्वभाव वाला है तथापि भिन्न २ पात्रों में पड़ने से जिस २ प्रकार

का होजाता है। नीम में पड़ने से कटुरस वाला होजाता है, तीर्थों पर पड़ने से पवित्रता को धारण करता है (कचरे) रूड़ी में पड़कर निन्द्य होजाता है, सीप में पड़ने से उत्तम मोती बन जाता है, औषधियों में पड़ने से औषधिरूप होजाता है, और अनेक प्राणियों को नीरोग करता है, विषैले वृक्षों में पड़कर प्राणों

नोट—वर्तमान समय में उपदेश शैली बदली हुई मालूम देती है, श्रोताजनों को विचार किये बिना व्याख्याता महाशय अपनी बड़ाई को प्रकट करने के लिये श्री आचारांग और भगवती आदि अति गहन विषय वाले ग्रन्थों का अपने कर्तव्य ज्ञान से शून्य हांजी हांजी करने वाले श्रोताजनों के समक्ष पढ़ना शुरू करते हैं, परन्तु श्रोता को जैसा चाहिये वैसा लाभ नहीं होता है इसलिये वक्ता को देश, काल, और सभा की योग्यता को देखकर उपदेश देना चाहिये। यद्यपि सिद्धांत को सुनना सुनाना उत्तम है तथापि प्रथम अपनी भूमि शुद्ध करने के लिये व्याख्यानके श्रोताजनों में कितने ही बे परवाह और सांसारिक कार्यों में व्यग्र चित्त होते हैं, अतः व्याख्यान सुनकर अच्छी तरह विचार नहीं कर सकते हैं। रूढ़ि की रक्षा के लिए व्याख्यान सुनने वाले अथवा मान की प्रभावना की इच्छा से उपाश्रय में आकर समय बिताने वाले श्रोताजन पर्वत की चोटी के समान है। जिस प्रकार पहाड़ की चोटी पर पड़ा हुआ जल पहाड़ की चोटी को कुछ भी लाभकारी नहीं होता, उसी प्रकार पूर्वोक्त स्वरूप वाले श्रोताओं को उपदेश रूपी जल लाभदायक नहीं होता है क्योंकि न तो उनमें व्याख्यान समझने की शक्ति होती है, और न उनका ध्यान ही स्थिर रहता है जैसा कि कहा है।

का नाशक होजाता है, नदियों और सरोवरों में पड़कर प्राणि मात्र के लिये उपयोगी होजाता है, पर्वत पर पड़ने से विनाश को प्राप्त होजाता है, सेलड़ी [गन्ने] के खेत में पड़कर अति मधुर रस को देने वाला होजाता है, कषाय बहेड़े जैसे कसैले वृक्षों के गहन वनों में पड़ने से कषायरस का उत्पादक होजाता है। इसी प्रकार सद्गुरु महाराज का वचनामृत यद्यपि एकही प्रकार का होता है तो भी योग्यायोग्य व्यक्ति के अनुसार भिन्न २ स्वभाववाला होता है, इसलिये जिसके योग्य जो उपदेश हो उसको वही उपदेश देना ग्रन्थकार को अभीष्ट है।

अपने आचार के ग्रंथोंका सुनना आवश्यक है।

योग्यता का स्वरूप

गिरिसिर १ पणाल २ मरुथल ३ कसिणावनि ४ जलहि सुत्ति ५ मणि खाणी ६. धम्मो. वएस वासे फलजणणे जीव दिट्ठंता ॥१०॥

अर्थ—जैसे पर्वत का शिखर, परनाला, मारवाड़, काली जमीन, समुद्र की सीप, और मणियों की खान, इनमें पड़ा हुआ पानी पृथक् २ रूप को उत्पन्न करता है, वैसे ही धर्मोपदेश की वासनों का फल जीवों को योग्यतानुसार फल देता है। गिरि-सिरि (पर्वत की चोटी)।

विवेचन—व्याख्यान सुनने वाले श्रोताजन कितनेक बे-परवाह और सांसारिक कार्यों में व्यग्र चित्त वाले होने से पूरे तौर पर व्याख्यान श्रवण कर विचार नहीं कर सकते। केवल एक रूढि के बंधे हुए लकीर के फकीर बने हुए अगुए के हक्कदार हुए हुए व्याख्यान श्रवण करने आते हैं, अथवा कई मानके लिये या प्रभावना के लिये उपाश्रय में आकर व्याख्यान सुनते हैं। वे केवल अपने वक्त को ही जाया करते हैं। न तो उनमें वक्ताके वचनों के समझने की शक्ति होती है और नाहि उनका मालिराम ही ठिकाने रहता है जैसा कि:—

कथा में तथा भई बाहिर रही जुत्ती।
कथा विचारी क्या करे जो श्रुति भई कुत्ती॥

ऊपर कहे हुए सभ्यजन पर्वत के शिखर के समान हैं, जैसे पर्वत के शिखर पर पड़ा हुआ पानी व्यर्थ जाता है अर्थात् पर्वत को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचाता है, क्योंकि तमाम पानी नीचे गिरजाता है वैसे ही पूर्वोक्त श्रोताओं को भी वट्टक के समान समझना चाहिये।

पणालाणि—पर्वत में से नदी-नाले के पानी के निकलने के मार्ग को अथवा मकानों पर से वर्षा के पानी के मार्ग को "परनाला" कहते हैं। परनाले में से वर्षा का पानी खल २ कर बहता हुआ दृष्टिगत होता है। वर्षा बंद होने के बाद थोड़ी देर तक दम

'कसिणा बाभिति'—जैसे काली भूमि पर थोड़ी सी भी वृष्टि होने से घास आदि की उत्पत्ति होती है और अधिक वृष्टि होने से चावल गन्ना तथा गेहूं आदि २ अच्छी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, वैसे ही कई जीवों में गुरु महाराज के थोड़े से उपदेश से भी सम्यक्त्वादि गुण प्रकट होजाते हैं, और विशेष उपदेश से उन्हें पूर्णतया गृहस्थ धर्मकी प्राप्ति होती है।

"जलहि सुत्ति" जिस प्रकार समुद्र की सीप में स्वाति नक्षत्र में बर्षे हुए मेघके बिंदु उत्तम जाति के मोती बन जाते हैं वैसे ही कई उत्तम पंक्ति के श्रोता गुरूपदिष्ट वचनों से उत्तम लाभ उठा सकते हैं। जैसे चीलाती पुत्र ने उपशम विवेक, और सम्वर इन तीन पदोंका श्रवण कर अपनी आत्माका कल्याण किया था उसी प्रकार योग्य पात्र में पड़ा हुआ स्वल्प उपदेश भी महान् लाभकारी होता है।

मणि खाणत्ति—मणियों की खानों में थोड़ा सा भी वर्षा हुआ मेघ महामूल्यमय तेजस्वी चिंतामणि सदृश मणि और रत्नों को उत्पन्न करता है; तथा वह अन्यान्य अनेक लाभों का कारण होता है, इसी प्रकार श्रोताजनों को अल्प भी गुरूपदेश (वचन) अनंत लाभकारी होते हैं; जैसे कि भगवान् महावीर [illegible] श्रीगौतम गणधर को संसार सागर से पार [illegible] उपदेशरूपी मेघ के पानी के लिये इच-

में पानी बहता है परन्तु वहां पर पानी ठहरा हुआ नजर नहीं आता और उस में नमी या अंकुरादि की उत्पत्ति होती हुई दीखती है। इसी तरह के कई श्रोताजन गुरूपदिष्ट कथा, गाथा तथा श्लोकादि को परको उपदेश देने के लिये अथवा अपना पाण्डित्य प्रकट करने के लिये धारण करते हैं, परंतु अपने आत्मा के सुधार के लिये कुछ भी ध्यान नहीं देते। उनकी अन्तरात्मा में जो कषाय तथा मिथ्यात्व आदि भरे हुए हैं, उनके त्यागने का प्रयत्न नहीं करते। अतः कठिन हृदय होने से जीव परनाले के समान हैं।

मरुधलस्ति—मारवाड़ में रेत बहुत होता है, अतः थोड़ी सी वृष्टि तो रेत में ही समाजाती है और कुछ भी वस्तु पैदा नहीं होती। अधिक वृष्टि होने से घास या सामान्य धान्य उत्पन्न होते हैं। परन्तु चावल आदि उत्तम धान्य और उत्तम फलफूल आदि प्रायः उसमें उत्पन्न नहीं होते हैं। इसी तरह कई श्रोताओं को थोड़ा सा उपदेश तो कुछ भी असर नहीं करता है, किन्तु अधिक उपदेश दिया जाता है तब उससे किञ्चन्मात्र भाव उत्पन्न होता है [illegible]दनुसार सामान्यतया वे सामायिक, देव पूजा, गुरु वंदन [illegible] और [illegible]नादि किया करते हैं, परंतु दृढ भाव से यतिधर्म या [illegible]वकधर्मका ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

'कसिणा बनिति'—जैसे काली भूमि पर थोड़ी सी भी वृष्टि होने से घास आदि की उत्पत्ति होती है और अधिक वृष्टि होने से चावल गन्ना तथा गेहूं आदि २ अच्छी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, वैसे ही कई जीवों में गुरु महाराज के थोड़े से उपदेश से भी सम्यक्त्वादि गुण प्रकट होजाते हैं, और विशेष उपदेश से उन्हें पूर्णतया गृहस्थ धर्मकी प्राप्ति होती है।

"जलहि सुत्ति" जिस प्रकार समुद्र की सीप में स्वाति नक्षत्र में बर्षे हुए मेघके बिंदु उत्तम जाति के मोती बन जाते हैं वैसे ही कई उत्तम पंक्ति के श्रोता गुरूपदिष्ट वचनों से उत्तम लाभ उठा सकते हैं। जैसे चीलाती पुत्र ने उपशम विवेक, और सम्वर इन तीन पदोंका श्रवण कर अपनी आत्माका कल्याण किया था उसी प्रकार योग्य पात्र में पड़ा हुआ स्वल्प उपदेश भी महान् लाभकारी होता है।

मणि खाणत्ति—मणिओं की खानों में थोड़ा सा भी बर्षा हुआ मेघ महामूल्यमय तेजस्वी चिंतामणि सदृश मणि और रत्नों को उत्पन्न करता है, तथा वह अन्यान्य अनेक लाभों का कारण होता है, इसी प्रकार श्रोताजनों को अल्प भी गुरूपदेश (वचन) अनन्त लाभकारी होते हैं; जैसे कि भगवान् महावीर का स्वल्प उपदेश श्रीगौतम गणधर को संसार सागर से पार पहुँचाने वाला हुआ। उपदेशरूपी मेघ के पानी के लिये इस

पूर्वोक्त वस्तुओं में से पर्वत की समानतावाले जीव और परनाले की समानतावाले जीव सर्वथा अयोग्य हैं। मतस्य-काली जमीन समुद्र की सीप, मलिखान के समान जीव उत्तरोत्तर योग्य हैं।

शुभाशुभद्रव्य सुभाविता घटा
वाम्या अवाम्याश्चतथाह्यवासिताः।
सद्धर्म वासस्य तथैवयोग्यतां
भवन्ति जीवाः कति चित्सुयोगतः ॥१॥

अर्थः-जिस प्रकार अच्छे पदार्थों से तथा कुत्सित पदार्थों से वासित घड़ा स्वीकार करने योग्य और त्यागने योग्य होता है तथा कई घड़े अवासित भी होते हैं, वैसे ही कई जीव अच्छे योग के मिलने से सद्धर्म वास की योग्यता को प्राप्त होते हैं।

योग्यता अनेक प्रकार की है जिसके लिये आगम में इस प्रकार कहा है:—

घड़ा दुविहा नवा जुन्ना य जुण्णा दुविहा भाविया, अभाविया य भाविया दुविहा पसत्थ भाविया, अप्पसत्थ भाविया य पसत्था । अगुरुतुरुक्कवाईहिं । अपसत्था पलण्हुलसुणमाईहिं । पसत्था भाविया वम्मा अवम्मा य। एवं अपसत्था वि जे अपसत्था अवम्मा जे य पसत्था वम्मा नते सुन्दरा। इयरे सुन्दरा अभाविया न केवइ भाविया।

णवगा आवागा श्रो उत्तारिता मत्तगा। एवं धम्माभि लासिणो णवगा; जे मिच्छ दिट्ठी तप्प इम यागाहि जन्ति। जुराणा-विजे-अभाविया ते सुन्दरा। कुप्पवयणपासत्थे हिं भाविया एवमेव भाव कुडा संविग्गेहिं। जे अपसत्था वम्मा जेश्रा पसत्थाय संविग्गा य अवम्मा एए लट्ठा।

अर्थः—घड़े दो प्रकार के होते हैं नवीन और पुराने। पुराने भी दो प्रकार के होते हैं—वासित और अवासित। वासित भी दो प्रकार के होते हैं, प्रशस्त वासित और अप्रशस्त वासित। प्रशस्त वासित वे कहलाते हैं जो कि अगर शिलारस केसर, चंदन, कर्पूर और कस्तूरी आदि वस्तुओं से सुवासित होते हैं, और अप्रशस्त वासित वे हैं जो कि कांदा (डुंगली) गो (प्याज) और लसुण (लहसन) आदि वस्तुओं से वासित होते हैं।

प्रशस्त वासित द्रव्य के भी दो भेद हैं—त्याज्य और स्वीकार्य। इसी प्रकार अप्रशस्त वासित भी दो प्रकार के हैं एक त्याज्य और अत्याज्य।

इनमें से जो अप्रशस्त होने पर भी अत्याज्य हो और प्रशस्त होकर भी त्याज्य हो वे दोनों अच्छे नहीं हैं, शेष सब भेद ठीक हैं। जो अच्छे या बुरे द्रव्य से वासित न हुआ हो उसको अवासित

कहते हैं निभाड़े में से तत्काल निकाला हुआ घड़ा नवीन कहलाता है। नवीन के भी प्रशस्तवासित, अप्रशस्त वासित, त्याज्य, अत्याज्य, प्रभृति भेद हैं। प्राचीन घड़े के समान ही धर्माभिलाषी जीवों को समझना चाहिये और पासत्थे की संगति करने से अप्रशस्त वासित होता है।

इसी प्रकार भाव घड़ों (जीवों) को समझना चाहिये। जो संविग्न गुणों से वासित हैं, वे प्रशस्त हैं और जो अप्रशस्त हैं वे त्याज्य हैं, और जो प्रशस्त संविग्न (गुणवाले) हैं वे अत्याज्य हैं।

विवेचन- शास्त्रकार ने घड़े के दृष्टान्त को लेकर जीवों पर घटाया है जैसे पांच प्रकार के घड़े हैं वैसे ही पांच प्रकार के जीव हैं। प्रथम नवीन और प्राचीन दो प्रकार के घड़े कहे हैं वैसे ही दो प्रकार के जीवों को भी समझना चाहिए। पुराना घड़ा दो प्रकार का होता है-वासित और अवासित। वासित दो प्रकार का है—एक सुगन्धिद्रव्य वासित और दूसरा दुर्गन्धिद्रव्य वासित, दुर्गन्धिद्रव्य वासित घड़े के समान मिथ्या शास्त्रों से जिसका हृदय वासित हुआ है, और जो अपनी दुर्वासना को सद्गुरु का उपदेश मिलने पर भी नहीं छोड़ता है वह त्याज्य है। क्योंकि वह जीव धर्म का पात्र नहीं और मिथ्या दर्शन से वासित होने पर भी न्याय, बुद्धिवाला, सरल हृदय, दृढ और दुराग्रह से रहित जो जीव है, वह सद्गुरु के उपदेश से सद्विवेक होने पर पूर्व ग्रहण किये

ए मिथ्या दर्शन को त्याग देता है वह अवाम्य अर्थात् धर्मोपदेश के योग्य है।

प्रशस्तवासित भी दो प्रकार का है—त्याज्य और अत्याज्य। जिन जीवों को प्रथम ज्ञान दर्शन की प्राप्ति हो और पीछे वे कुगुरु आदि की संगीत से ज्ञान दर्शन को त्याग दें वे जीव वाम्य (त्याज्य) जानने चाहियें। अर्थात् वैसे जीव उपदेश के योग्य नहीं।

जिन जीवों को प्रथम ज्ञान दर्शन की प्राप्ति हुई हो और पीछे जो कुगुरु आदि के संसर्ग होने पर भी ज्ञानदर्शन को नहीं त्यागते वे जीव अवाम्य (अत्याज्य) जानने चाहियें। वे धर्मोपदेश के योग्य हैं। जो जीव प्राचीन होने पर भी अवासित हैं, अर्थात् जिनको किसी धर्म की वासना नहीं हुई है वे भी धर्मोपदेश के योग्य हैं।

पूर्वोक्त रीति से प्राचीन घड़े के दृष्टांत से धर्मोपदेश के लिए जीवों की योग्यता कह दी गई अब नवीन घड़े के समान जीवों की योग्यता और अयोग्यता का कथन करते हैं।

१–जैसे कुम्भकार के आवे (नेवें) में से तत्काल घड़े को निकाल कर उसको जैसी वासनादें वह वैसी ही वासना को ग्रहण करता है।

उसी प्रकार बाल्यावस्था वाले जीवों को जिनको अभी तक किसी भी धर्म का संस्कार नहीं हुआ है, यदि उनकी योग्यता के अनुसार उनको धर्मोपदेश दिया जावे तो वे शीघ्र ही कार्य करनेवाले हो सकते हैं ऐसे जीव अवश्य धर्म के योग्य हैं।

ग्रन्थकार महाराजने योग्यायोग्य के बताने के लिए इतना परिश्रम किया इसका कारण यह है कि वर्तमानकाल में आयु कम है, और विघ्न बहुत हैं और महर्षियों को अपना तथा अन्य-अनेक भव्य जीवों का कल्याण करना आवश्यक है। इसलिए अपात्र जीवों के तथा धर्मोपदेश की चर्चा करना अमूल्य समय को व्यर्थ खोना ठीक नहीं है इस धारणा को हृदयस्थकर उपदेश देने से पहिले ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका विचारकर पात्र को ही उपदेश देना चाहिये, जिससे वक्ता और श्रोता दोनों का कल्याण है।

इति योग्याऽयोग्य स्वरूप वर्णनम्।

विशेष धर्म की अभिलाषावालों को प्रथम सामान्य धर्म की विधि में प्रयत्न करना चाहिये; जैसे कि दीवार (भीत) को कमाये (घोटे) विना उस पर चित्रकारी नहीं ठहर सकती, वस्त्रको पास दिये बिना रंग ठहर नहीं सकता, खेतकी भूमि शुद्ध किये बिना हल सुहागा फिराये बिना बीज बोया नहीं जाता,

व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः ।
अष्टभिर्धी गुणैर्युक्तः शृण्वानो धर्म मन्वहम् ॥ ५ ॥
अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यतः ।
अन्योऽन्याऽप्रति बन्धने त्रिवर्गमपि साधयन् ॥ ६ ॥
यथा वदतिथौ साधौ दीने च प्रति पत्तिकृत् ।
सदानभि निविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च ॥ ७ ॥
अदेशाकालयोश्चर्यां त्यजन् जानन्बलाबलम् ।
वृत्तस्थ ज्ञानवृद्धानां पूजकः पोष्य पोषकः ॥ ८ ॥
दीर्घदर्शी विशेषज्ञः कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृति कर्मठः ॥ ९ ॥
अन्तरङ्गारि षड्वर्ग परिहार परायणः ।
वशी कृतेन्द्रिय ग्रामो गृही धर्माय कल्पते ॥ १० ॥

अर्थः–न्याय से पैसा कमानेवाला (१) भले पुरुषों के आचार की प्रशंसा करने वाला (२) अपने समान कुल और सदाचार वाले अन्यगोत्र के साथ विवाह करने वाला (३) पाप से डरने वाला (४) प्रसिद्ध देशाचार के अनुसार आचरण करने वाला (५) किसी से भी बुरा न बोलने वाला, विशेषतः राजा आदि का अवर्णवादन बोलने वाला, (६) जो अति प्रकट और अति गुप्त न हों, अच्छे पड़ोसियों से युक्त हो, जिन घरों के आने जाने के द्वार बहुत न हों तथाविध स्थान में निवास करने

वाला (७) श्रेष्ठ आचार करने वाले की संगति करने वाला (८) माता पिता की पूजा करने वाला (९) उपद्रव वाले स्थान को त्यागने वाला (१०) निन्दनीय प्रवृत्ति में न लगने वाला (११) आमदनी के प्रमाण से व्यय करने वाला (१२) धन के अनुसार वेष पहिनने वाला (१३) बुद्धि आठ गुणों से युक्त (१४) निरंतर धर्म सुनने वाला (१५) भोजन पाचन न हुआ हो वहां तक भोजन का त्याग करने वाला (१६) समय कुसमय और पथ्यापथ्य का विचार कर भोजन करने वाला (१७) परस्पर विरोध रहित, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का साधन करने वाला (१८) अतिथि साधु और दीन पुरुषों की उनकी योग्यतानुसार सत्कार करने वाला (१९) किसी भी प्रकार से आग्रह कभी न करने वाला (२०) गुणों में पक्षपात करने वाला (२१) देशकालानुसार चलने वाला (२२) अपने बलाबल का विचार करने वाला (२३) व्रतधारी और ज्ञान वृद्धों का पूजन करने वाला (२४) कुटुम्बादि पोष्य वर्ग का पोषण करने वाला (२५) पूर्वापर का विचार करने वाला (२६) विशेष जानने वाला (२७) किये हुए उपकार या गुणों को जाननेवाला (२८) लोकप्रिय (२९) लज्जा वाला (३०) दया सहित (३१) सुन्दराकृतिवाला (३२) परोपकार करने वाला (३३) अंतरंग छः शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य) को जीतने वाला (३४) इन्द्रियों का वश करने वाला (३५)

उपर्युक्त ३५ गुणवाला पुरुष गृहस्थधर्म के योग्य होता है।

अथ प्रथम गुणाधिकार न्याय सम्पन्न विभवः।

यहां पर स्वामि-द्रोह, मित्र-द्रोह विश्वासी को ठगना चोरी कर्म आदि निन्द्य उपायों से द्रव्योपार्जन करना छोड़कर अपने २ वर्णानुकूल द्रव्योपार्जन करने के जो उत्तम उपाय हैं उनको न्याय मार्ग कहते हैं।

उस न्याय मार्ग की प्रविति से संपत्ति पैदा करने वाले को न्याय सम्पन्न वैभव कहते हैं।

शुद्ध व्यवहार से उपार्जित संपत्ति को निरशंक अपने शरीर के उपभोग में लाने से और मित्र स्वजनादिक के कार्यमें लगाकर इस लोक में सुखी होता है कहा भी है कि:—

सर्वत्र शुचयो धीराः स्वकर्म बल गर्विताः।
कुकर्म निहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः ॥१२॥

अर्थः—अपने बल द्वारा अभिमानी बने हुए प्रत्येक स्थान में प्रकाशित होते हैं, और पापी आत्मा प्रत्येक स्थान में शंकित बने रहते हैं ॥१२॥

न्यायोपार्जित वित्तके अधिकारमें स्पष्टता के लिये अन्यायोपार्जित धनवाले की स्थिति दिखलाते हैं।

अन्याय की प्रवृत्ति करने से मनुष्यों को दो प्रकार का अविश्वास प्राप्त होता है एक भोक्ता का और दूसरा भोग्य विभव

का । इसमें भोगने वाले को " यह परद्रव्य से प्राप्त किया हुआ वैभव भोगता है, ऐसी दोषयुक्त आशंका होती है तथा भोग्य-वस्तु में यह पर द्रव्य है, इसको यह भोगता है ऐसी शंका होती है, परन्तु अन्याय प्रवृत्ति के निषेध करने से न तो न्याय प्रवृत्ति में दोनों प्रकार की शंका ही होती है और न न्याय प्रवृत्ति में अविश्वास होता है, कहने का अभिप्राय यह है कि न्यायोपार्जित द्रव्यका व्यय (खर्च) करने वाले पर कोई भी मनुष्य किसी समय लेशमात्रभी शंका नहीं करता, उस न्याय प्रवृत्ति करनेवाले स्थिर चित्त और अच्छी परिणति वालेको इस लोक में भी महान् सुखों की प्राप्ति होती है, और प्रत्येक स्थान में उसका यश तथा श्लाघा होती है। सत्पात्रमें धनका उपयोग करने से तथा पुण्यानुबंधी पुण्यका हेतु होनेसे और दया करके दीन दुखी अनाथ प्राणियों को द्रव्यादि देने से उसके लिए परलोक में हित होता है।

न्यायोपार्जित धनको सत्पात्र में विनियोग करने से चार भंग होते है। जैसे कि प्रथम तो न्यायोपार्जित धन फिर उसका सत्पात्र में दान, १–पुण्यानुबन्धि पुण्य का हेतु भूत होने से उत्तम देवत्व भोगभूमि में (युगलिक क्षेत्रमें) मनुष्यत्व सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति तथा आसन्न सिद्धि फलका देने वाला होता है। जैसे धन सार्थवाह और शालिभद्र आदि को हुआ जिस से कहा भी है:—

परे तुलिय कप्प पायव चिन्तामणि कामधेणु माहप्पं।
दाणाओ सम्मत्तं पत्तं धण सध्य वाहेणं ॥ १२ ॥

अर्थ—दान के प्रभाव से धन सार्थवाहने कल्पवृक्ष, चिन्तामणि कामधेनु गौके महाप्रभाव की तुलना करने वाले सम्यक्त्व को प्राप्त किया था अथवा नन्दि षेणादि के समान जिसका दृष्टान्त ऐसे है:—

किसी ग्राम में धन से कुबेर के साथ ईर्ष्या करने वाले एक ब्राह्मण ने यज्ञके प्रारम्भ में लाख ब्राह्मणों को भोजन देना प्रारम्भ किया।

उक्त कार्य में किसी निर्धन जैन ब्राह्मण की सहायता के लिए उस से प्रतिज्ञा की कि तुम्हें ब्रह्मभोज के अनन्तर बचा हुआ अन्न दूँगा। अनुक्रम से ब्रह्मभोज समाप्त हुआ, और बचा हुआ अन्न जैनब्राह्मण को दिया गया। उस समय उस निर्धन जैन-ब्राह्मण ने निर्दोष और न्याय से प्राप्त किये हुए अन्न को पाकर विचार किया कि यह अन्नादिक किसी सुपात्र को दिया जाय तो बहुत ही फल हो। कहा भी है कि—

"न्याय से मिला हुआ और कल्पनीय ऐसा अन्नपानादि द्रव्य परमभक्तिकारक और आत्मा को उपकारी ऐसा होगा,

बुद्धि करके जो सुपात्र को दान दिया जावे तो उसको मोक्ष का देने वाला अतिथि संविभाग कहा है।

तदनन्तर उस ब्राह्मण ने दया तथा ब्रह्मचर्य, प्रमुख गुण वाले कितने ही अपने स्वधर्मियों को निमंत्रण दिया। उन स्वधर्मियों के भोजन के समय एक मास के पारनों के लिए भिक्षा निमित्त एक महात्मा आ पधारे।

इन स्वधर्मियों से मुनि महात्मा उत्तम पात्र हैं, ऐसा विचार कर उस ब्राह्मण ने बहुमान तथा श्रद्धा पूर्वक मुनि को अन्नपान आदि का दान दिया जिससे कहा है:—

मिथ्या दृष्टि सहस्रेषु वरमेको अणुव्रती।
अणुव्रीत सहस्रेषु वरमेको महाव्रती ॥१४॥
महाव्रति सहस्रेषु वरमेकोहि तात्त्विकः।
तात्त्विकेन समं पात्रं न भूतं न भविष्याति ॥१५॥

अर्थ—हजारों मिथ्या दृष्टिओं से एक अणुव्रती (श्रावक) उत्तम है, हजारों अणुव्रतिओं से एक महाव्रती (साधु) उत्तम है। हजारों महाव्रतिओं से एक तत्ववेत्ता महात्मा उत्तम है। तत्ववेत्ता सुपात्र में दान करने वाले के समान पात्र न हुआ है न होगा।

पूर्वोक्त जैन ब्राह्मण आयु क्षय होजाने पर दान के प्रभाव से प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से काल करके राजगृही

नगरी में नन्दिषेण नामक श्रेणिक राजा का पुत्र हुआ। उसकी यौवन अवस्था आने पर राजा ने पाँचसौ राजकन्याओं के साथ लग्न कराया और वह (नन्दिषेण) दोगुन्दक देवता की भांति मनोहर विषय सुखरूप समुद्र में मग्न हुआ।

इधर लक्ष ब्रह्मभोज कराने वाला ब्राह्मण पापानुबन्धि पुण्य को पुष्ट करने वाला, विवेक रहित दान के प्रभाव से बहुत से भवों में किञ्चित् भोगादि सुख को भोगकर किसी जंगल में हाथी योनि में पैदा हुआ। पहिले यूथपति तमाम हथिनी के बच्चों को मार डालता था, एक हथिनी ने यूथपति की नजर बचाकर तापसों के आश्रम में एक बच्चे को जन्म दिया, वह (हाथी का बच्चा) तापस पुत्रों के साथ वृक्षों को जल से सींचता था। अतः तापसों ने उसका नाम सेचानक रक्खा। वह एक समय अपने यूथपति पिता को मारकर स्वयं हथिनियों के टोले का मालिक हुआ, और अपनी माता के प्रपंच को जानकर सेचानक ने तापसों के आश्रम को नष्ट कर दिया जिससे तापस बहुत दुःखी होकर श्रेणिक राजा के पास जाकर कहने लगे। जंगल में इस प्रकार का एक हाथी है-सात हाथ ऊँचा है, नौ हाथ लम्बा है, तीन हाथ चौड़ा है, दस हाथ विस्तार वाला है, बीस नखों से सुशोभित है उसका कुम्भस्थल चढ़ाए हुए धनुष की तरह ऊँचा है, कण्ठ में लघु है, मधु-

समान पिंगल नेत्रों वाला है, चंद्र समान उत्तम कांतिवाला है। राजन्! इस प्रकार चारसौ चालीस (४४०) उत्तम लक्षणों वाला भद्र जाति का, सात अंगों से सुशोभित, वह हाथी आपके योग्य है। तापसों की बात सुनकर श्रेणिक राजा ने उस हाथी को पकड़वाकर अपना पट्ट हस्ती बनाया। वहां पर वह उत्तम भोजन के मिलने से सुखी हुआ। एक दिन तापसों ने हाथी से कहा—" देखा हमारे आश्रम के भंग करने का फल "। ऐसे मार्मिक वचन सुनकर उसको क्रोध आया, और वह अपनी बंधी हुई जंजीरों को तोड़कर, स्तम्भों को उखाड़ कर, अपने स्थानसे निकल कर जंगल में आकर फिर दूसरी वार तापसों के आश्रम को नष्ट-भ्रष्ट करने लगा। राजा श्रेणिक परिवार सहित उस हाथी को पकड़ने के लिये उसके पीछे निकला, परंतु बहुत परिश्रम करने पर भी हाथी वश न हुआ। इसके बाद राजा की आज्ञा से नंदि-षेणने हाथी को हुंकारा। नंदिषेण कुमार को देखकर हाथी विचार करने लगा कि यह कोई मेरा संबंधी है। इस विचार से ही हाथी को जाति स्मरण ज्ञान हुआ, और अपना पूर्व जन्म स्मरण-कर शांत होगया और नन्दिषेण कुमार ने हाथी को लाकर थंभ के साथ बांध दिया। इससे श्रेणिक राजाको आश्चर्य हुआ। इतने में श्रीमहावीर स्वामी वैभारगिरि पर समवसरे। (इस वृत्तांत को सुनकर) श्रेणिक राजा, अभयकुमार नंदिषेण आदि प्रभुको वंदन करने के लिये गए।

धर्मदेशना के अन्त में राजा ने प्रभु के पास हाथी के शांत होने के विषय में प्रश्न किये; भगवान ने उनके पूर्वजन्म का लाख ब्राह्मणों को भोजन कराना तथा साधु को दान देना इत्यादि, दोनों ब्राह्मणों का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। दूसरी बार उनके आगामी भवों के प्रश्नोत्तर में भगवान्महावीरस्वामी ने नन्दिषेण कुमार को देख कर कहा—कि हे राजन्! यह नन्दिषेणकुमार न्यायोपार्जित द्रव्य को सुपात्र में व्यय करने से देव, मनुष्य के महाभोगों को भोग कर चारित्र्य ग्रहण कर देव-पदवी प्राप्त कर अनुक्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा। यह हाथी तो वैसे द्रव्य से पात्रापात्र का विचार किये विना दान आदि से भोगों को प्राप्त हुआ। परन्तु मरकर प्रथम नरक में जायगा ऐसे प्रभु के वचनों को सुन कर नन्दिषेण प्रतिबोध को प्राप्त हुआ, और श्रावक धर्म को अंगीकार कर पालन करने लगा। अनुक्रम से दीक्षा लेने के समय "अभी तक मेरा भोगावली कर्म बाकी है"। ऐसे वचनों से शासन देवता के निषेध करने पर भी उसने दीक्षा ग्रहण की। पूर्व निकाचित भोगावली कर्म के उदय से प्रेरित नन्दिषेण साधुवेष त्याग कर गृहस्थ वेष में १२ वर्ष तक वेश्या के यहां रहा, और उसने प्रतिदिन दस जनों को प्रतिबोध देने की प्रतिज्ञा धारण की। इत्यादि और वृत्तान्त अन्य ग्रन्थों से जान लेना। पूर्व की तरह दान की

रीति से कुशल और न्याय से द्रव्य पैदा करने वाला तथा सुपात्र का पोषण करने वाला गृहस्थ सुन्दर भोगों को प्राप्तकर क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। न्याय से प्राप्त किये हुए द्रव्य को ऐसे वैसे पात्र में लगाना अर्थात् न्यायोपार्जित द्रव्य का कुपात्र में दुरुपयोग करना दूसरा भंग जानना। यह भंग जहां कहीं संसार में केवल भोग फलों को देने वाला होता है, किन्तु अन्त में लक्ष ब्राह्मणों को भोजन करानेवाले ब्राह्मण के समान कटु फल का ही देने वाला होता है कहा है कि:—

दानेन भोगानाप्नोति यत्र तत्रोपपद्यते।

अर्थः—दान द्वारा भोगों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु जैसी वैसी गति में पैदा होकर उन दलियों को समाप्त कर देता है। अन्यायसञ्चित द्रव्य से सत्पात्र को पोषण करना यह तीसरा भंग जानना।

"अन्यायोपार्जित द्रव्य का सुपात्र में दान।"

अच्छे क्षेत्र में बोये हुए सामान्य बीज के समान, उस द्रव्य के भविष्य में सुख की उत्पत्ति में सहाचारी होने के लिये, बहुत आरम्भ से द्रव्य पैदा करने वाले राजा तथा व्यापारियों के संबंध में यह तीसरा भंग जानना। अर्थात् राजा और व्यापारी महा आरम्भ से धन प्राप्त करते हैं, और उनरकाल

द्रव्य उनको सुख देने वाला होता है। अन्यायोपार्जित द्रव्य का सुपात्र में विनियोग होने से वह अंत में सुख देने वाला होता है। कहा है कि:—

> खलोऽपि गवि दुग्धं स्याद्दुग्धमप्युरगे विषम्।
> पात्रापात्र विशेषेण तत्पात्रे दानमुत्तमम् ॥१॥

खल गाय में दुग्ध पैदा करती है, और दूध सर्प में जाकर विष उत्पन्न करता है, पात्रापात्र विशेष से ही यह फल होता है; इसलिये पात्र में ही दान देना उत्तम है। जैसे स्वाति नक्षत्र में मेघ की धारा का बिन्दु सीप के मुख में पड़ने से साक्षात् मोती बन जाता है और वही बूंद उसी नक्षत्र में सर्प के मुख में विष होजाता है। महा आरम्भरूप अनुचित प्रवृत्ति से प्राप्त किया हुआ धन किसी भी शुभ क्षेत्र में लगाये विना मम्मण सेठ की तरह दुर्गति का फल देने वाला होता है। कहा भी है:—

> ववसाय फलं विहवो, विवहस्स फलं सुपत्त विणि ओगो।
> तय भावे ववसाओ, विह वो विय दुग्गइ निमित्तं ॥१॥

अर्थः—व्यापार का फल वैभव और वैभव का फल सुपात्र में विनियोग है, परन्तु उसके अभाव (सुपात्र के न होने) में व्यापार और वैभव दोनों दुर्गति के निमित्त हैं। अन्याय से उपार्जित धन का कुपात्र में लगाना रूप यह चौथा भंग समझना, अर्थात्

अन्याय से कमाना और कुपात्र में देना यह चौथा भंग इस लोक में सर्वथा निन्दनीय और परलोक में दुर्गतिदायक होने से विवेकी पुरुषों को त्याज्य है। कहा भी है:—

अन्यायोपात्त द्रव्यस्य दानमत्यंतदोषकृत्।
धेनुं निहत्य तन्मांसै ध्वांक्षाणामिव तर्पणम् ॥१॥

अर्थः—अन्याय से ग्रहण किये हुए द्रव्य का कुपात्र में दान अत्यन्त दोष उत्पन्न करने वाला है, गाय को मारकर मांस से कौओं को तृप्त करने के समान है। अन्य शास्त्रों में भी कहा है:—

अन्यायोपार्जितैर्वित्तैर्यत् श्राद्धं क्रियते जनैः।
तृप्यन्ते तेन चाण्डाला बुक्कासा दासयोनयः ॥१॥

भावार्थः-अन्याय से उपार्जन किये हुए द्रव्य से जो लोग श्राद्ध करते हैं, उससे चाण्डाल, वर्ण संकर और दास योनियों में उत्पन्न होनेवाले तृप्ति को प्राप्त होते हैं। पितरों की तृप्ति नहीं होती। न्याय से पैदा किये धन का थोड़ा अंशभी पात्रमें दान करने से बहुत फल देनेवाला होता है और अन्याय से पैदा किये हुए धन का बहुत दान भी निष्फल होता है। अन्याय की वृत्ति से पैदा किया हुआ धन इस लोक और परलोक में अहितकारी होता है, क्योंकि इसलोक में लोक विरुद्ध आचरण करने वाले

पुरुष को वध बंधन आदि दोषों की प्राप्ति होती है और परलोक में नरक। कदापि किसी मनुष्य की पापानुबंधि पुण्यकर्म के फल से इसलोक में विपत्ति नजर नहीं आती; परन्तु परलोक में तो उसका फल अवश्यमेव नरक रूप दुःख है। इसीलिये कहा है कि:—

पापेनैवार्थ रागान्धः फलमाप्नोति यत् क्वचित्।
बडिशामिष वत्तमविनाश्य न जीर्यति॥

अर्थः—धन के रोग में अन्धा हुआ मनुष्य किसी समय फल को प्राप्त कर लेवे तो जैसे कांटे में लगा मांस मच्छीका नाश किये बिना नहीं रहता, वैसे ही अन्याय से पैदा किया हुआ धन प्रथम तो कुछ सुखकर भले ही होता है परन्तु अन्त में वह ग्रहण करने वाले का नाश किये बिना नहीं रहता। और भी एक स्थान में कहा है:—

अन्यायो पात्तवित्तेन यो हितं हि समीहते।
भक्षणात्काल कूटस्य सोऽभिवांच्छति जीवितुम्।

अर्थः—जो पुरुष अन्याय से उपार्जित द्रव्य से अपना हित चाहता है वह मनुष्य कालकूट (विष) के खाने से मानो जीने की इच्छा करता है। इस लोक में अन्यायोपार्जित धन से अपना निर्वाह करने वाले गृहस्थ की बुद्धि रंक सेठ की तरह प्रायः अन्याय, क्लेश, अहंकार और अधर्म में ही प्रवृत्ति रहती है।

रंक सेठकी कथा

मारवाड़ के पल्ली (पाली) नाम के एक ग्राम में काकू और पातक नाम के दो भाई रहते थे। उन दोनों में छोटा भाई धनी और बड़ा भाई निर्धन था। बड़ा भाई निर्धन होने के कारण छोटे भाई के घर में नौकर रह कर अपना जीवन चलाता था। एक समय चौमासे के दिनों में दिन के काम से थका हुआ काकू रात को सो गया। उससे पातक ने कहा भाई! पानी के प्रवाह से अपने खेत की क्यारियों के बंध टूट गये हैं, और तुम निश्चिंत होकर सो रहे हो, यह बहुत अनुचित है। पातक के इस उपालम्भ को सुन काकु बिस्तरे से उठा और अपनी पराधीनता की निन्दा करता हुआ कुदाल लेकर जब खेत में पहुंचा तो वहां काम करते हुए मनुष्यों को देखकर काकु ने उनसे पूछा कि तुम कौन हो? उन्होंने उत्तर दिया कि हम तुम्हारे भाई के नौकर हैं, यह सुन काकु बोला क्या किसी स्थान पर मेरे भी नौकर हैं! वे बोले तुम्हारे नौकर वल्लभीपुर में हैं। इस बात को सुन कर कुछ समय के अनन्तर काकु अपने परिवार सहित वल्लभीपुर नगरको रवाना हुआ। वहां जाकर दरवाजे के पास रहने वाले गुजरों (गोवालियों) के समीप रहने लगा, उसे अत्यन्त दरिद्र और दुर्बल जान कर गुजरों ने उसका नाम रंक रख दिया। रंक नामा वणिक ने उन आभीरों की सहायता से एक घास की झोंपड़ी

बना कर वहां दुकान खोल ली । एक समय कोई यात्री (कार्पटिक) गिरनार पर्वत में से सिद्धरस की तुम्बी को लेकर आ रहा था । मार्ग में आते हुए सिद्धरस की तुम्बड़ी में से **काकु तुम्बड़ी** ऐसी अदृश्य वाणी को सुन कर वह भयभीत हुआ, उससे बल्लभीपुर के समीप रहने वाले उस कपटी रंक वणिक के घर में उस तुम्बड़ी की अमानत रख कर आप सोमनाथ की यात्रा के लिये चल दिया। एक समय किसी त्योहारके दिन चूल्हे पर चढ़ाये हुए तपेलेमें तुंबी के छिद्रोंसे रसके बिंदु गिरनेसे तपेला सुवर्ण रूप होगया। उसको देखकर उस वणिकने यह सिद्ध रस है ऐसा निश्चयकर, तुम्बी सहित घर की अच्छी २ वस्तुओं को किसी अन्य स्थानमें रखकर अपने घर को आग लगादी, और नगर के दूसरे दरवाजे में घर बनाकर रहने लगा। और वहां रहकर वह घी का व्यापार करने लगा। एक समय कोई घी बेचने के लिये सेठ जी के मकान पर आया सेठजी घी को तोलने लगे, किन्तु घी का पात्र घृत से रिक्त न होता। ऐसे अक्षय घी को देखकर घी के बर्तन को जब अच्छी तरह से देखा तो वर्तन के नीचे उसे चित्रामणि वेल देखने में आई। ऐसा निश्चय होने पर कपट से सेठ जी ने उसे भी ले लिया। इस प्रकार झूठा तोल झूठा माप झूठा तराजू तथा अन्य कपट करने से और पापानुबन्धि पुण्य के प्रभाव से रंक श्रेष्ठी को व्यापार करने से बहुत धन की प्राप्ति हुई। पुनः एक सम

कोई सुवर्ण सिद्धि करने वाला उस रंक श्रेष्ठी को मिला। उसको भी कपट वृत्ति से ठगलिया, और उसकी सुवर्ण सिद्धि ग्रहण करली। इस प्रकार तीन सिद्धियों के बलसे काकू अनेक कोटि धनका स्वामी बना। परन्तु अन्याय से प्राप्त किये वैभव के सेवन से और प्रथम निर्धन परचात् धनी होने से उस में अत्यन्त आसक्त हुए उस साहूकार ने किसी भी तीर्थमें दया, दान, अनुकम्पा, और सुपात्र में अपने धन को न लगाया किन्तु इसके विपरीत लोगों को उजाड़ने, नया नया कर (टैक्स) बढ़ाने, अहँकार का पोषण और अन्य श्रीमानों से ईर्ष्या आदि के करने से वह अपनी लक्ष्मी को प्राणि विनाशक कालरात्रि के समान बना कर दिखाने लगा। एक समय वहां के राजा ने रत्नजटित कंघी अपनी पुत्री के लिये रंक श्रेष्ठी से मांगी। परन्तु उसने न दी। तब राजा ने उससे जबरदस्ती से छीन ली, उस विरोध से म्लेच्छ देश में जाकर कोटि सुवर्ण देकर वह मुंगलों को चढ़ा लाया। उन मुंगलों से देश का नाश होने पर भी रंकवणिक ने राजा के सूर्य मण्डल से आते हुए घोड़े के रक्षकों को रिशवत देकर बहका दिया। प्रथम वह सूर्य के वरदान से प्राप्त किये द्रव्य घोड़े पर सवार होता था, और बाद में संकेत किये हुए वे पुरुष पांच शब्द वाले बाजे बजाते थे, पीछे घोड़ा आकाश में उड़ता और उस पर सवार हुआ राजा शत्रुओं को मारता और संग्राम के

बाद घोड़ा सूर्य मण्डल में प्रवेश कर जाता था। परन्तु इस समय रंक श्रेष्ठी के बहकाये हुए उन पुरुषों ने राजा के घोड़े पर सवार होने से प्रथम ही पांच शब्द वाले वाजे का नाद किया, घोड़ा तत्काल उड़कर चलगया। उस वक्त अब क्या करना इस विचार में मग्न हुए शिलादित्य राजा को मुंगलों ने मारडाला। पीछे वल्लभीपुर का नाश हुआ। कहा भी है कि:—

पण सयरी वास सयं तिन्नि सयाई अइक्कमेऊणं।
विक्कम काला ओ तओ वल्लभीभंगो समुप्पन्नो ॥१॥

अर्थ—विक्रम राजा के समय से ३७५ (महावीर ८४५) वर्ष के बाद वल्लभीपुर का भंग हुआ, बाद में रंक श्रेष्ठी ने मुंगलों को रण में मारडाला।

रंक श्रेष्टि कथा समाप्त।

इस प्रकार अनीतिमय धन की महिमा जानकर नीतिमय धनोपार्जन करने में तत्पर रहना योग्य है, और शुद्ध व्यवहार पूर्वक उपार्जित धन से आजीविका चलाने वाले की खुराक, प्रकृति, [स्वभाव] धर्म और कर्म भी शुद्ध हो जाता है। आगम में भी कहा है:—

ववहार सुद्धी धम्मस्स, मूलं सव्वन्नु भासए।
ववहारेणतु सुद्धेणं, अत्थ सुद्धी अ ओ भवे ॥१॥
सुद्धेणं चेव अत्थेणं आहारो होई सुद्धओ।
आहारेणतु सुद्धेणं देहसुद्धी जओ भवे ॥२॥

सुद्धेणं चैव देहेण धम्मजुग्गो य जायई ।
जंजं कुणाई किच्चंतु (तु) तंतंते (से) सफलं भवे ॥३॥

अर्थः—सर्वज्ञ भगवान ने धर्म का मूल व्यवहार की शुद्धि कथन की है, और व्यवहार की शुद्धि से धन की शुद्धि कथन की है, धन की शुद्धि से आहार शुद्धि, और आहार शुद्धि से शरीर की शुद्धि होती है, शरीर की शुद्धि से ही मनुष्य धर्म के योग्य होता है, और जो २ कार्य करता वह सफल होता है।

विवेचनः—श्रीजिनेश्वर देव ने धर्म का मूल व्यवहार शुद्धि कही है, इसलिए व्यापार करते हुए कम देना तथा अधिक लेना माप को छोटा बड़ा करना, खोटा तोल, खोटा माप रखना, अच्छी वस्तु में खराब वस्तु को मिलाना, नये और पुरानों को मिलाना, देव द्रव्यादि खाना, रिशवत खाना, विश्वासघात करना, इत्यादि अन्याय मार्ग से धन पैदा करना गृहस्थ को योग्य नहीं है, क्योंकि शुद्ध व्यवहार से द्रव्य की शुद्धि होती है, शुद्ध द्रव्य से खरीदा अन्न (अनाज) और उससे बना हुआ जो शुद्ध आहार है, उसके भोजन करने से आत्मा में सात्त्विकगुण, क्षमा, दयादि उत्पन्न होते हैं, शुद्ध आहार के करने से निरन्तर शुभ परिणाम रहता है। कहाभी है—"जैसा अन्न वैसा तन, जैसा तन वैसा मन, जैसा मन वैसा विचार, जैसा उत्तम विचार, वैसा आचार, जैसा आचार वैसा फल" अतः उत्तम फलका कारण अन्न ही रहा।

इसलिये प्रथम गृहस्थाश्रम में धर्म और आहार की शुद्धि होनी चाहिये। शुद्ध धन को अगर सुपात्रदान में दीन दुःखियों के दुःख दूर करने में और स्वधर्मियों की भक्ति आदि धर्म कार्य मे लगाया जाय तो वह अत्यन्त आनन्दप्रद होता है।

शुद्ध द्रव्य जिस किसीके भी उपभोगमें आता है उसके ही विचारों को शुद्ध प्रवृत्ति में लगाता है, और अनीति मय विचारों का विनाश करता है, इस लिये व्यवहार शुद्धि से ही धन कमाने में निरन्तर प्रयास करना चाहिये, जिससे कि उत्तरोत्तर शुभ फलकी प्राप्ति हो। शुद्धाहार के करने से शरीर के परमाणु भी निर्मल रहते हैं। शरीर और द्रव्य मनके परमाणुओं की शुद्धि होने से जिनेश्वर भगवान् की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने पर कर्मों की प्रबलता का नाश होता है, उससे आत्मा उत्तरोत्तर उच्च दशा को प्राप्त करके अपने स्वरूप को प्रकट करने में प्रयत्नवान् होता है, समय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता के मिलने से प्रथम देश विरति धर्म को अंगीकार करता है और बाद में सर्व विरति धर्म को स्वीकार कर उसका आराधन करता हुआ, अप्रमादि गुण स्थान को प्राप्त होकर घाती कर्मोंके विनाश द्वारा केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्रकट करता हुआ अंत में मोक्ष को प्राप्त होजाता है। अब ऊपर की बात को व्यतिरेकी *

* एक वस्तु के न होने पर उसके साथ में रहनेवाली दूसरी वस्तु का न होना "व्यतिरेक" कहलाता है।

त से दिखाते हैं:—

अभद्दा अफलो होइ जं जं किच्चंतु सो करे।
ववहार सुद्धि रहिओ य धम्मं खिंसा वराभओ॥

अन्यथा व्यवहार शुद्धि रहित पुरुष जो जो कार्य करता है ह फल शून्य होता है और धर्मकी लघुता कराता है। अब लघुता तलाते हैं:—

धम्मं खिंसं कुणं ताणं अप्पणो अपरस्सय।
अबोहो परमा होइ, इइ सुत्ते विभासिय॥२॥

अर्थ—धर्म की अवहेलना करने और कराने वाला पुरुष अपने और दूसरे का सम्यक्त्व का विनाश करता है ऐसा सूत्रो में कहा है।

विवेचन—लोक में भी कहावत है कि जैसा अन्न, वैसा तन, अर्थात् जैसा आहार करेगा वैसा ही शरीर बनेगा, जैसे बाल्यावस्था में भैंस का दूध पीने वाला घोड़ा पानी में प्रवेश करता है, और गाय का दूध पीने वाला जल में प्रवेश नहीं करता इसी प्रकार जिस मनुष्य ने बाल्यावस्था में जैसा भोजन किया हो, उसी के अनुसार उसका स्वभाव होता है। इसलिये न्याय से उपार्जन किया हुआ द्रव्य ही धर्म की वृद्धि करने वाला होता है, और अन्यायो पार्जित द्रव्य अन्त में राजा, चोर, अग्नि,

इसलिये प्रथम गृहस्थाश्रम में धर्म और आहार की शुद्धि होनी चाहिये। शुद्ध धन को अगर सुपात्रदान में दीन दुःखियों के दुःख दूर करने में और स्वधर्मियों की भक्ति आदि धर्म कार्य में लगाया जाय तो वह अत्यन्त आनन्दप्रद होता है।

शुद्ध द्रव्य जिस किसीके भी उपभोगमें आता है उसके ही विचारों को शुद्ध प्रवृत्ति में लगाता है, और अनीति मय विचारों का विनाश करता है, इस लिये व्यवहार शुद्धि से ही धन कमाने में निरन्तर प्रयास करना चाहिये, जिससे कि उत्तरोत्तर शुभ फलकी प्राप्ति हो। शुद्धाहार के करने से शरीर के परमाणु भी निर्मल रहते हैं। शरीर और द्रव्य मनके परमाणुओं की शुद्धि होने से जिनेश्वर भगवान् की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने पर कर्म बलकी प्रबलता का नाश होता है, उससे आत्मा उत्तरोत्तर उच्च दशा को प्राप्त करके अपने स्वरूप को प्रकट करने में प्रयत्नवान होता है, समय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता के मिलने से प्रथम देश विरति धर्म को अंगीकार करता है और बाद में सर्व विरति धर्म को स्वीकार कर उसका आराधन करता हुआ, अष्टमादि गुण स्थान को प्राप्त होकर घाती कर्मोंके विनाश द्वारा केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्रकट करता हुआ अंत में मोक्ष को प्राप्त होजाता है। अब ऊपर की बात को व्यतिरेकी*

* एक वस्तु के न होने पर उसके साथ में रहनेवाली दूसरी वस्तु का न होना " व्यतिरेक " कहलाता है।

दृष्टांत से दिखाते हैं:—

अवहा अफलो होइ जंजं किच्चंतु सोकरे।
ववहार सुद्धि रहिओ य धम्मं खिंसा वराजओ॥

अन्यथा व्यवहार शुद्धि रहित पुरुष जो जो कार्य करता है वह फल शून्य होता है और धर्मकी लघुता कराता है। अब लघुता बतलाते हैं:—

धम्मं खिसं कुणं ताणं अप्पणो अपरस्सय।
अबोहो परमा होइ, इइ सुत्ते विभासिय॥२॥

अर्थ—धर्म की अवहेलना करने और कराने वाला पुरुष अपने और दूसरे का सम्यक्त्व का विनाश करता है ऐसा सूत्रों में कहा है।

विवेचन—लोक में भी कहावत है कि जैसा अन्न, वैसा तन, अर्थात् जैसा आहार करेगा वैसा ही शरीर बनेगा, जैसे बाल्यावस्था में भैंस का दूध पीने वाला घोड़ा पानी में प्रवेश करता है, और गाय का दूध पीने वाला जल में प्रवेश नहीं करता इसी प्रकार जिस मनुष्य ने बाल्यावस्था में जैसा भोजन किया हो, उसी के अनुसार उसका स्वभाव होता है। इसलिये न्याय से उपार्जन किया हुआ द्रव्य ही धर्म की वृद्धि करने वाला होता है, और अन्यायो पार्जित द्रव्य अन्त में राजा, चोर,

जल आदि से नाश हो जाता है उसकी स्थिति अधिक काल तक नहीं रहती, और नाहीं वह अपने शरीर के उपभोग में जाता है और नाहीं धर्म-कार्य में व्यय करके पुण्य का कारण बनता है। कहा भी है—

अन्यायो पार्जितं वित्तं दशवर्षाणितिष्ठति ।
माप्तेत्वेकादशे वर्षे समूलश्च विनश्यति ॥१॥

अर्थ—अन्यायोपार्जित धन अधिक से अधिक देश वर्षतक स्थिर रहता है, ११ ग्यारवें वर्ष के आने पर वह समूल नष्ट हो जाता है।

इस पर वंचक श्रेष्ठी की कथा इस प्रकार है ·

किसी एक ग्राम में हेलाक नामक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम हेली और पुत्र का नाम हालक था। हेलोक सेठ मीठा बोलने से खोटे तराजू से कूट माप और कूट तोल से नई और पुरानी वस्तु के भेल सभेल से चोरों की चुराई हुई वस्तुओं के ग्रहण तथा और अनेक प्रकार के खोटे व्यापार से धन को उपार्जन करता था। परन्तु वास्तव में तो वह दूसरों को ठगने के बजाय खुद ही ठग जाता था। शास्त्र में कहा है कि—

कौटिल्य पटवः पापाः मायया वक्र वृत्तयः
भुवनं वंचयमानाः वंचयन्ते स्वमेवहि ।

अर्थ--कपट करने में निपुण और माया द्वारा बगुले के समान वृत्ति रखने वाले पापीजन जगत को ठगते हुए अपनी आत्मा को ठगाते हैं। अनुक्रम से उसके पुत्र की युवावस्था होने पर दूसरे गाम में रहने वाले उत्तम श्रावक सेठ की पुत्री के साथ उसका विवाह (लग्न) हुआ। उसकी पुत्रवधू धर्मज्ञ उत्तम श्राविका थी। सेठजी की दूकान घर के निकट ही थी। सेठजी माल लेने के समय प्रथम संकेत किये हुए "पञ्चपोकार" "त्रिपोकार" माप के सम्बन्ध से अपने पुत्र को "पञ्चोपकार" "त्रिपोकार" नाम से बुलाते हैं, कुछ समय के अनन्तर सेठजी की चालाकी लोगों को भी ज्ञात हुई। लोगों ने सेठजी का नाम वंचक श्रेष्ठी रखदिया। एक दिन सेठ की पुत्रवधू ने अपने पति से पूछा कि नाथ! पिताजी आपको दूसरे नाम से क्यों बुलाते हैं तब सेठजी के पुत्र ने अपनी भार्या के आगे व्यापार सम्बन्धी कुल हाल कह सुनाया। धर्मानुरागिणी पुत्रवधू ने सेठजी को बड़े विनीति भाव से कहा कि इस प्रकार पापयुक्त व्यापार से उपार्जित द्रव्य न तो धर्म कार्य में और नाहीं अपने उपभोग में आता है। इसलिये न्याय से उपार्जित द्रव्य कल्याणकारी होता है। यह सुन कर सेठजी बोले कि न्याय से उपार्जन करनेमें निर्वाह कैसे चलेगा, क्योंकि सत्य पर कोई विश्वास नहीं करता। तब वधू ने कहा पिताजी! शुद्ध व्यापार से

थोड़ा भी द्रव्य बहुत होता है, और घर में टिका रहता है, तथा अच्छे क्षेत्र में बोये हुए बीजके समान बहुत फल देने वाला होता है। यदि आपको विश्वास न हो तो छः मासतक इस अन्याय की प्रवृत्ति को छोड़कर न्याय प्रवृत्ति से व्यापार करें। पुत्र बधू के कथन से सेठजी ने वैसा ही किया। छः महीने में सेठजी ने पांच सेर सोना उपार्जन किया। सेठके सत्य व्यवहार का प्रभाव लोगों पर खूब पड़ा। सब लोग उसकी दूकान से माल लेने देने लगे। जगत् में उसकी कीर्त्ति खूब फैली। और लोगों का विश्वास उस पर खूब जम गया। सेठजी ने वह सुवर्ण लाकर अपनी पुत्र वधू को दिया। तब उसने कहा, पिताजी! इसकी परीक्षा करो। सेठजी ने उस सुवर्ण की एक पांच सेरी बनाई और चमड़े में मढ़ाकर ऊपर अपना नाम लिखकर वह बजार के चौटे में फेंकदी। तीन दिन तक वहां पर पड़ी रही किसी ने भी न उठाई। फिर वहां से उठा कर एक तालाव में डाल दी। उसको एक बड़ी मछली ने निगल लिया। उस मछली को किसी (धीवर) मच्छीमार ने जाल डाल कर पकड़ लिया और घर में लाकर उसका पेट चीरने से उसमें से सेठजी के नामवाली पाँचसेरी निकली। धीवर ने तत्काल ही सेठजी की दूकान पर आकर दिखलाई। सेठजी ने कुछ देकर वह लेली अब बहूके वचन पर सेठजी को पूर्ण विश्वास होगया। पीछे तो सेठजी ने बहुत धन पैदा किया; और वह सातों ही क्षेत्रों में धनके व्यापार मे

जगत्‌में बड़ी भारी प्रभुताका पात्र बना। सब लोग यह सेठजीका उज्वल द्रव्य है, ऐसा विचार कर, व्यापारादिके लिये व्याज आदि देकर सेठजी का द्रव्य स्वीकार करने लगे। जहाज भरनेके समय विघ्नोंकी शांतिके लिये सेठजीके द्रव्यको जहाजोंमें प्रथम डालने लगे। सेठजी के नाम से लाभ अधिक होता है यह विचारकर जहाज चलाने के समय हेलऊ हेलऊ ऐसा शब्द आज तक भी बोला जाता है। इस प्रकार शुद्ध व्यापार इस लोक में प्रतिष्ठा का हेतुभूत है। इसलिये न्याय जो है, वही परमार्थ वृत्ति से द्रव्योपार्जन के उपाय में रहस्य है। कहा भी है—

सुधीरर्थार्जने यत्नं कुर्वान्न्यायपरायणः ।
न्याय एवानपायो यऽदुपाय संपदा पदम् ॥

अर्थ— न्याय में तत्पर रहकर बुद्धिशाली मनुष्य को धनोपार्जन करने में प्रयत्न करना चाहिये, न्याय ही संपत्ति का विघ्न रहित उपाय और स्थान है। सज्जन पुरुषों को वैभव रहित होना अच्छा है, परंतु बुरे आचरणों से उपार्जित अधिक सम्पत्ति भी अच्छी नहीं। परिणाम में सुन्दर और स्वभावसे कृश भी हो तो वह शोभता है परन्तु परिणाम में असुन्दर और रोगादि से स्थूल हो तो वह शोभा नहीं देता। तपस्वी लोगों को तो विहार, आहार, आचार और व्यवहार आदि सभी शुद्ध मालूम देता है, परन्तु गृहस्थों का तो केवल व्यवहार ही शुद्ध नजर आता है। ०मे० २

जाति स्मरण ज्ञान हुआ है और मुझको आपके प्रभाव से अभी ही मनुष्य भाषा उत्पन्न हुई है, इसी प्रकार अज्ञान से भक्षण किया हुआ भी देवद्रव्य दुःख का कारण होता है । इस लिये विवेकी पुरुषों को देवद्रव्य का अपनी शक्ति के अनुसार रक्षण करना चाहिये। विद्वान् जन विषको विष नहीं कहते, परन्तु देवद्रव्य को विष कहते हैं । विष तो केवल खानेवाले एक को ही मारता है परन्तु देवद्रव्य पुत्र पौत्रको भी मार देता है। ऐसा स्मृतिकारों का भी कथन है। यहां पर यदि कोई ऐसी शंका करे कि जो इस तरह व्यवहार का निषेध करोगे तो गृहस्थ को द्रव्य प्राप्ति ही न होगी, और पीछे आजीविका का भंग होने से धर्मका हेतुभूत चित्त समाधिका लाभ कैसे होगा । इसका उत्तर यह है कि—" न्याय ही मनको प्राप्ति में उत्कृष्ट रहस्य है और न्याय ही परमार्थ में द्रव्योपार्जन करने का उपाय है, जैसे मेंडक जलाशय में आते हैं और पक्षी सरोवर के पूर में आते हैं वैसे ही शुभकर्मके आधीन हुई सर्व संपत्ति भी अच्छे कर्म करने वाले (भाग्यशाली) पुरुष के पास आती है । कहा भी है:—

> मादे न्वानर्थितामेति नचांभोभिर्न पूर्यते ।
> आत्मवातु पात्रतांनेयः पात्र मायान्ति संपदः ॥१॥

अर्थ—जैसे समुद्र याचकता को प्राप्त भी नहीं होता पानी से भरा भी जाता है वैसे ही आत्मा को पात्रता में [illegible]

आवश्यकता है क्योंकि पात्र में संपत्तियें स्वयं आजाती हैं। वह शुद्ध ऋजु व्यवहार चार प्रकार का है:— १–यथार्थ कहना, २–अवंचन क्रिया, ३–भविष्य के उपाय (अनर्थ) प्रकाश करना, ४-और मैत्री भावका सद्भाव। तात्पर्य यह है कि शुद्ध दोष रहित ऋजु–सरल ऐसे व्यवहार के ४ नाम अर्थात् भेद हैं।

प्रथम यथार्थ कहना। धर्म में लेने देने में और साक्षी में या और कोई दूसरे व्यवहार आदि में विरोध रहित वचन का बोलना। यहां पर तात्पर्य यह है कि जो भाव से श्रावक है वह धर्म और अधर्म को जानकर दूसरे को ठगने की बुद्धि से बोलना नहीं है किन्तु वह सत्य और मधुर ही बोलता है। और देने के बदले कमती बढ़ती कीमत नहीं कहता। किसी साक्षी में नियुक्त किया गया असत्य नहीं बोलता। राजसभा आदि में किसी भी मनुष्य को असत्य वचनों से दूषित नहीं करता। और धर्मके उप-हास्य जनक वचनों को कमल श्रेष्ठी की तरह त्याग देता है वह ऋजु व्यवहार का प्रथम भेद हुआ।

(२) अवंचन क्रिया—अर्थात् धोखे [illegible] न देनेवाली मन, वचन और कायाका व्यापार-रूप जो क्रिया उसे अवंचनक्रिया कहते हैं। विशुद्धधर्मकी इच्छा रखनेवाला [illegible] समान विधि और ऋजु आदि से कम देकर और [illegible] देकर दूसरों को नहीं ठगता। अवंचन क्रिया में [illegible] श्रेष्ठी की [illegible]

चोर को पाद उष्णोदक (पानी) और रस्सा वगैरह देना उसे पद्यप्रदान कहते हैं। अर्थात् चोर को पांव धोने के लिये और शरीर को मलने के लिये थकावट को दूर करने के लिये तेल और उष्ण जल वगैरह का देना पद्य प्रदान कहाता है।

चोर को रसोई बनाने के लिए अग्नि देनी उसको अग्निप्रदान कहते हैं।

चोर को पानी देना उसको उदकप्रदान कहते हैं।

चोर को गाय भैंस आदि के बांधने के लिए डोरी (रस्सा) देना उसे रज्जुप्रदान कहते हैं।

इन उपरोक्त वस्तुओं को जानकर देने का विशेष ख़्याल रखना चाहिये। और अज्ञान दशा में तो देनेवाला दोषी नहीं ठहराया जाता (इति अवंचन क्रिया)।

हुंतवाय पगासणाचि अर्थात् व्यवहार से उत्पन्न हुआ राजदंड और नरक में ले जाने वाला जो भावी अनर्थ उसका इस प्रकार प्रकट करना यथा हे भद्र। इसलोक और परलोक में अनर्थ करने वाले चोरी आदि पाप कार्यों को नहीं करना। इस प्रकार दूसरे को उपदेश करना यहां पर कहा जाता है:--

असाएण चिइत्तं दव्वा असुद्धं असुद्ध दव्वेणं।
आहारा वि असुद्धो तेण असुद्धं सरीरं पि॥१॥

देहेण असुद्धेणं जंजं किज्जइ कयावि सुहकिच्चं।
तंतं न होइ सहलं वीयंपिव ऊसरं निहितं ॥२॥

अर्थ—अन्यायोपार्जित द्रव्य अशुद्ध कहलाता है। और अशुद्ध द्रव्य से आहार भी अशुद्ध हो जाता है और अशुद्ध आहारसे पुष्ट हुआ शरीर भी अशुद्ध हो जाता है। ऐसे अशुद्ध शरीर से जो कोई धर्मकार्य किसी वक्त करने में आवें तो वे कार्य ऊसर भूमि (कालरी जमीन) में बोये हुए बीज की तरह निष्फल होता है।

यह ऋजु व्यवहार का तीसरा भेद हुआ—

मित्री भावीय सद्भाववृत्ति—मित्र का भाव अथवा तो मित्र का जो कर्म उसे मैत्री कहते हैं। निष्कपटतासे मैत्री भाव का होना अर्थात् उत्तम मित्र की तरह कपट रहित मैत्री करे। परंतु गो मुख व्याघ्र वृत्ति (मुख गाय जैसा और स्वभाव सिंह जैसा) का सा व्यवहार रखकर सब लोगों के अविश्वास का पात्र और पाप का भागी बनना उचित नहीं।

यह ऋजु व्यवहार का चौथा भेद हुआ।

विवेकी पुरुषों को चार प्रकार के ऋजु व्यवहार करने के आचरण करने वाले होना चाहिये। समुचित व्यापार का व्यवहार इस प्रकार हैः—

यदि व्यापारी को लक्ष्मी की इच्छा हो तो उसे माल देखे बिना साई नहीं देनी, यदि साई देनी पड़े तो बहुत से लोगों के समक्ष देनी, जहां पर मित्रता न हो वहां पर धन के लेने देने का संबंध करना चाहिये, अपनी प्रतिष्ठा के भंग का भय रखने वाले को जहां मित्र व्यापार करता हो वहां पर ठहरना युक्त नहीं है, लक्ष्मी की इच्छा वाले उत्तम व्यापारियों को ब्राह्मण व्यापारियों के साथ और शस्त्रधारियों के साथ कभी व्यापार नहीं करना चाहिये, धन की रक्षा करने वाले व्यापारियों को नट, वेश्या, जुआरी और धूर्त पुरुषको उधार देना युक्त नहीं है, जो अपने धर्म को कलंकित करने वाले हों और जो अपनी बदनामी करने वाले हों ऐसे पुरुषों से यदि अधिक लाभ भी हो तो भी धार्मिक पुरुषों को उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये। जो द्रव्य खोटे माप, खोटे तोल से उपार्जन किया गया है, वह प्रथम तो नजर आता है, परन्तु उष्णपात्र में पड़े हुए जल-बिन्दु की तरह कुछ समय बाद नजर नहीं आता। दाक्षिण्यता से किसी का साक्षी नहीं होना चाहिये और जहां तहां कसम वगैरह भी नहीं खानी चाहिये। और जो पुरुष जुए और रसायन से धन की इच्छा करता है वह पुरुष मानों स्याही के कूँचे से अपने मकान को सफेद करने की इच्छा करने वाला है। इस लोक में लोभ की आकुलता बहुत आरम्भ वाले और श्रावक के अयोग्य

दो पायों का चार पायों वालों का तथा लोहा, नील और तेल आदि का व्यापार करने से धन की वृद्धि नहीं होती, क्योंकि द्रव्य की वृद्धि तो शुभ कर्मों से पुष्ट होने वाले धर्म के प्रभाव से ही होती है। कहा भी है:—

यत्नानुसारिणी विद्याः लक्ष्मी पुण्यानुसारिणी।
दानानुसारिणी कीर्त्तिः बुद्धि कर्मानुसारिणी॥

अर्थ—विद्या उद्यम के अनुसार प्राप्त होती है, लक्ष्मी पूर्व पुण्य के अनुसार मिलती है, कीर्त्ति दान के अनुसार फैलती है और बुद्धि कर्मों के अनुसार फैलती है।

विवेचन—यत्नानुसारिणी विद्या। विद्या प्रयत्न साध्य होने पर भी कितनेक पुरुष कर्म का दोष निकाल कर विद्याभ्यास करने में प्रमादी हो जाते हैं, उन महानुभावों को ऐसा करना योग्य नहीं परन्तु आलसी बनकर आत्मा में छिपे हुए मति और श्रुति ज्ञान को रोकने वाले मतिज्ञानावरणीय और श्रुतिज्ञानावरणीय कर्म को आत्म प्रदेशों से दूर करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये, जिससे कि सहज में ज्ञान की प्राप्ति हो। इसका उत्तर यह है कि ऐसे विचार वाले पुरुष को पुस्तक संरक्षण, जीर्णपुस्तकोद्धार, नवीन ज्ञान-भंडार, ज्ञानपञ्चमी आदि का आराधन-तपस्या, ज्ञानाभ्यासी को सहायता, लोकोपयोगी नवीन पुस्तकों की रचना और ज्ञान तथा ज्ञानी का बहुमान विनय आदि करना चाहिये।

जिससे कि मति और श्रुतिज्ञान के आवरयक कर्म का क्षय या क्षयोपशम हो। ऊपर कहे गये पाप को शुद्धान्तःकरण पूर्वक करने और निरन्तर विद्याभ्यास करने से ज्ञान की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। प्रयत्न से तो मासतुष जैसे मुनि (जिससे मारुष, मातुष, के बदले मासतुष बोला जाता था) ने भी गुरु महाराज की आज्ञा को मान कर निरन्तर विद्याभ्यास करके कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर लिया, ऐसे ही राज्यकार्य का अधिकार होने पर भी महाराजा कुमारपाल ने एकावन (५१) साल की उमर में शास्त्राभ्यास करके वीतरागस्तत्र, योगशास्त्र, और व्याकरण वगैरह को कण्ठस्थ किया। ये ही नहीं बल्कि उन्होंने साहित्य-शास्त्र में भी निपुणता प्राप्त की थी। इसकी साक्षी उनका बनाया हुआ सर्वजिन साधारण स्तोत्र नामा काव्य देरहा है। कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद्-हेमचन्द्राचार्य के स्वाध्यायी श्रीमद् रामचन्द्रसूरिजी के सतत विद्याभ्यास से एक नेत्र भी जाता रहा तो भी विद्याभ्यासके प्रयत्न को जारी रख कर साहित्य और धर्म-शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने १०० ग्रन्थों की रचना की और श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय और श्रीमद् वीर विजयजी उपाध्याय ने विद्याभ्यास के लिये कैसा प्रयत्न किया था, इसके लिये जगत का उपकार करने वाले उन्होंके बनाये हुए सैकड़ों ग्रन्थ आजकल मौजूद हैं। इनके सिवाय और सैकड़ों उदाहरणों से सिद्ध होता है कि प्रयत्न से ज्ञानावरणीय कर्म

का नाश होता है और ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये मैं अशक्त हूं, मैं वृद्ध हूं, मुझे शास्त्र की समझ नहीं आती इत्यादि, बहाने निकालकर प्रमाद का सेवन न करके निरन्तर विद्याभ्यास करने में उद्यत रहना चाहिये।

लक्ष्मीः पुण्यानुसारिणी—लक्ष्मी पूर्वकृत शुभकर्मों के अनुसार प्राप्त होती है। यहां पर प्रयत्न की मुख्यता नहीं है क्योंकि प्रातःकाल से लेकर शाम तक परिश्रम करने वाले मजदूरों को स्वल्प द्रव्य की प्राप्ति होती है, और स्वल्प प्रयत्न करने वालों को बहुत धन की प्राप्ति होती है यह बात तो जगत् प्रसिद्ध ही है अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। यदि कोई ऐसा समझता हो कि मैं बहुत प्रयत्न करके बहुत सा धन एकत्रित कर सकूंगा, उसका यह विचार भूल से भरा हुआ है। तो फिर क्या गृहस्थों को अपने भाग्य के ऊपर आधार रखकर बैठ रहना चाहिये। ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका जवाब यह है कि इस ग्रन्थ में और दूसरे अनेक ग्रन्थों में श्रावकों के लिये यह शिक्षा दी है कि अपने आत्महित को न बिगाड़ कर व्यवसाय आदिक प्रामाणिकता से करें और कौन सा धन्धा श्रावक को न करना चाहिये, तथा प्राप्त हुए द्रव्य में से धर्मकार्य में और सांसारिक कार्य में कितना २ खर्च करना चाहिये, इन सबका नियम बताया है और इस प्रकार वर्तने वाला श्रावक

सुखी होता है ऐसी ज्ञानी जनों की मान्यता है। इस वास्ते शास्त्रोक्त रीति से प्रयत्न करके जो द्रव्य मिले उसीमें संतोष मानना योग्य है।

दानानुसारिणी कीर्तिः। कीर्ति दान के अनुसार फैलती है। यहां पर कह देना जरूरी है कि कितनेक गृहस्थों के पास किसी का धर्मादा पैसा जमा होता है या वह खुद धर्मादा निकालते हैं परंतु उसे यथा स्थान पर न लगा कर अपने पास ही जमा रख छोड़ते हैं और उस पैसे से दानादि करके अपनी कीर्ति चाहते है मगर ऐसा करना योग्य नहीं है। समय को मान देकर जैसा हो वैसा करना योग्य है और कपट आदि से दान करने में कीर्ति के बदले अपकीर्त्ति होती है इसलिए दान शुद्धांतः-करण पूर्वक करना चाहिये। दान करने में कीर्त्ति के बदले अप-कीर्त्ति होती है इसलिए दान शुद्धान्तःकरण पूर्वक करना चाहिये। दान करने के वक्त अपनी कीर्त्ति की इच्छा न रख कर शुद्ध द्रव्य शुद्ध पात्र में शुद्ध भाव से देना योग्य है।

बुद्धिः कर्मानुसारिणी। कर्म के अनुसार काम करने की बुद्धि उत्पन्न होती है। जैसे किसी को अमुक वस्तु से लाभ होता हो उसको उसी वस्तु के व्यापार करने की इच्छा होती है और उसमें प्रवृत्ति करने से लाभ आदि होता है। यहां पर अमुक व्यापार करने रूप जो बुद्धि हुई वह पूर्व कृत कर्म से ही हुई

मानी जाती है जैसा कि "तादृशी जायते बुद्धि यादृशी भवित-
व्यता" जैसा कार्य होने वाला होता है वैसी ही प्रवृत्ति करने की
अभिलाषा होती है। रामायण में भी कहा है कि—

ननिर्मितः कैर्नच दृष्ट पूर्वः न श्रूयते हेममयः कुरङ्गः।
तथापि जाता रघुनन्दनस्य विनाश काले विपरीत बुद्धिः।

तात्पर्य यह है कि सुवर्णमयहरिण न किसीने बनायाहै, न किसीने
देखा है और न किसी के सुनने में आया है तो भी विनाशकाल
में रामचन्द्रजी की बुद्धि विपरीत हुई। इस तरह बुद्धि भावी कार्यके
अनुसार होती है फलितार्थ यह हुआ कि शुभाशुभकार्य में विद्वानों
को समपरिणाम रखना और हर एक प्रयत्न में—कि जिससे कर्म-
बन्ध हो ऐसा कषायजनक कार्य नहीं करना। बार २ यही विचार
करना चाहिये कि मेरी निंदित काम करने की मति क्यों पैदा होती
है? ऐसा विचार करके उस दुर्मति को त्यागने का प्रयत्न करना
चाहिये। लक्ष्मी के सम्बन्ध में **धनश्रेष्टी** की कथा इस प्रकार है—

कांचनपुर में सुन्दर श्रेष्ठी का धन श्रेष्ठी नामक पुत्र ९९
लाख द्रव्य का मालिक था। ५५ लाख पूर्व पुरुषों का आया हुआ
था और ४४ लाख अपने पिता का कमाया हुआ था। पिता के
परलोक जाने पर धनश्रेष्टी ने एक करोड़ द्रव्य इकट्ठा करने की
इच्छा से घर के काम से और धर्मकार्य के खर्च में से एवं

सारा द्रव्य कम कर डाला तो भी- साल के बाद हिसाब मिलाने से ९९ लाख ही रहा क्योंकि कितने पदार्थों का भाव घट गया। खर्चे के घटाने पर भी अधिक धन न- हुआ, देशान्तर में जाकर १५ प्रकार के कर्मादानों का व्यापार करते हुए एक करोड़ से अधिक द्रव्य उपार्जन किया। वहां से वापिस आते हुए रास्ते में चोरों ने तमाम धन लूट लिया। केवल कुछ छिपाए हुए गहने वगैरह लेकर धनश्रेष्ठी अपने घर को आया।

फिर दूसरी बार सालाना (वार्षिक) हिसाब करते हुए ९९ लाख ही निकला। इसी प्रकार फिर सेठजी आस पासके गामों में जाकर चोरोंकी चोराई हुई वस्तुओं को सस्ते भाव में खरीदने लगे तथा चोरों को मदद देनी और राज के कानून का भंग करना शुरू किया। इस प्रकार अनेक तरह के खोटे व्यवसायों से सेठजी ने सवा करोड़ धन पैदा कर लिया। दैवयोग से गाम में आग लगने से तमाम धन अग्निमें जल गया। सेठजी खाली हाथ मलते घर में वापिस आए। धनश्रेष्ठी के जिनदत्त नामक मित्र ने खूब समझाया कि हे मित्र! खोटे व्यापार से द्रव्य और धर्म की हानि न करो किंतु घर वगैरह के खर्च को भी जैसे पहले था वैसे ही करो। मित्रके समझाने से सेठजी प्रथम की तरह ही घर आदि का खर्च करके व्यापार करने लगे। एक दफा उसने देखा कि लखपति, कोड़पति को नमस्कार करता है। कोड़ पतिका

उसे सत्कार करना पड़ता है। इसीलिये अधिक धनोपार्जन करने का कुछ उपाय ढूंढ़ना चाहिये। उसे तीन उपाय ध्यान में आये-- मंत्र साधन, वनिज व्यापार और खनिज पदार्थों का शोधन। यह विचार उसने प्रथम घोड़ों का व्यापार करना शुरु किया। मित्र वगैरह के समझाने पर भी जहाज में सवार होकर उसने विदेश को गमन किया।

फिर वह एक क्रोड़की कीमत का एक रत्न अपनी जाँघ में डालकर जहाजमें सवार हुआ वापिस घर आते हुए समुद्र में उसका जहाज टक्कर लगाकर टूट गया। पुण्योदय से एक काष्ठ का पट्टा उसके हाथ आगया, उसके सहारे से समुद्रको पारकर सेठजी घर पहुँचे। फिर हिसाब करनेसे ९९ लाख ही निकला, क्योंकि जांघके अंदर रखे हुए कीमती रत्नका शरीर की गरमी लगने से तेज मंद होगयाथा, और उसकी कीमत एक लाख घट गयी थी। अन्तमें थक कर सेठजी ने पुण्य के ऊपर आधार रखकर घर तथा धर्म वगैरह में अधिक खर्च करना प्रारंभ किया, ऐसा करनेसे घरमें रही हुई वस्तुयें जो सस्ते भाव की खरीद करी थीं उसका भाव तेज होने से थोड़े ही दिनों में कोटि ध्वज हो गया। अनेक मन्दिरोंका जीर्णोद्धार और नवीन जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा वगैरह पुण्य कामों में धन खर्चने लगा। धर्म के प्रभाव से सेठ के पास क्रोड़ से भी अधिक धन हो गया क्योंकि "उत्तम धर्म कार्य करने वालों की तमाम जगह पर वृद्धि ही होती है।" कुछ अरसे

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर

की

नियमावली ।

१-इसका मेम्बर हर एक हो सकता है।

२-फ़ीस मेम्बरी कम से कम २) वार्षिक है, अधिक देने का हरएक को अधिकार है। फ़ीस अगाऊ लीजाती है। जो महाशय एक साथ सोसायटी को ५०) देंगे, वह इसके लाईफ़ मेम्बर समझे जावेंगे। वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया जावेगा।

३-इस सोसायटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होता है। जो महाशय मेम्बर होंगे वे चाहे किसी महीने में मेम्बर बनें, चन्दा उनसे ता० १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक का लिया जायेगा।

४-जो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितर्ण कराना चाहें, उनका नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जायगा।

५-जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हर एक मेम्बर के पास बिना मूल्य भेजे जाया करेंगे।

सेक्रेटरी ।

श्राद्ध गुण विवरण

दूसरा भाग।

॥ श्री वीतरागायनमः ॥

श्राद्ध गुण विवरण।

दूसरा भाग।

अथ द्वितीय गुण वर्णन

"शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा"

शिक्षा को प्राप्त हुए अर्थात् व्रत नियम में रहे हुए और ज्ञानवृद्ध सत्पुरुषों की सेवा करके प्राप्त की है निर्मल शिक्षा जिसने, ऐसे पुरुष को शिष्ट पुरुष कहते हैं। हमें उन पुरुषों के श्रेष्ठाचरण की प्रशंसा करनी चाहिये। अर्थात् उनकी उपवृंहणा करनी, उत्साह बढ़ाना, जनसमूह के आगे उन के गुण गाने और सहायता देनी इत्यादि जो कोई श्लाघा करने वाला हो उसे शिष्टाचार प्रशंसक कहते हैं। ऐसा करने से यथार्थ पुण्य मार्गकी वृद्धि होती है, गुणी पुरुषों के तुल्य सम्मान होताहै, गुणवान् पुरुषों की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और उत्तम मार्ग का अनुसरण होता है तथा निरंतर सब लोगों का उत्साह बढ़ता है इत्यादि यह सदाचार कैसा है सो सुनिये।

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः ॥

अर्थ—लोगों के अपवाद से डरना, दीन पुरुषोंका उद्धार करना, किसी के किये हुए उपकार को जानना और दाक्षिण्यता रखनी, ऐसे आचार को सदाचार कहा है।

विवेचन—लोकापवादभीरुत्वम्-जिस काम के करने से लोकों में निन्दा होती हो, वैसे काम करने में भय रखना। तात्पर्य कि प्रायः धनादि के लोभ में अथवा इन्द्रियों के विषयों के आधीन होकर कोई पुरुष असत् प्रवृत्ति करने की इच्छा रखता है, परन्तु उसको लोकापवाद का भय है, और जो धर्मात्मा होता है वही ऐसे भयकी चिन्ता रखता है, जिससे उसकी अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये श्रावक को लोकापवाद से भय करना आवश्यकीय है।

दीनाभ्युद्धरणादरः-दीन पुरुषों के उद्धार करने में आदर-वाला होना, यानी अपना स्वधर्मी जाति बन्धु या देशबन्धु अथवा कोई भी प्राणी आपत्ति में आपड़ा हो तो उसकी उपेक्षा न करके अपनी शक्ति के अनुसार सहाय देने में अथवा परिश्रम करके उसका उद्धार करने में आदर युक्त होना चाहिये।

कृतज्ञता किये हुए उपकार को जानना यह सामान्यगुण प्रत्येक व्यक्ति में घटता है। संसार में भी किये हुए गुणों को भूल जानेवाला अधर्मी कहा जाता है। अतः सर्वतः अपनी शक्ति के अनुसार उपकारी के प्रति प्रत्युपकार करने की किसी भी प्रकार की यदि शक्ति न हो तथापि उसे बदला उतारनेकी हमेशा ख्वाहिश रखनी चाहिये, जिससे कि कृतघ्नता को प्राप्त न हो और उपकारी का बदला देने के लिये शक्तिमान् पुरुष को यह कभी विचार न करना चाहिये कि मेरे ऊपर उपकार करनेवाला किसी भी आपत्ति में आपड़े तो उसको संकट रहित करके करज रहित (उऋण) हो जाऊं, क्योंकि यह विचार मस्तक काटकर पगड़ी बांधने के समान है, हाँ उपकारी के उपकार का हमेशा स्मरण किया करें और ऐसा विचार करें कि जैसा दुःख मेरे ऊपर आया था, ऐसे मेरे उपकारी पर न आवे।

सुदाक्षिण्यम्–अच्छे प्रतिष्ठित मनुष्य महाजन जातिभाई तथा ग्राम अथवा देश के मान्य पुरुष यदि कोई अमुक सुकृत् काम करने के लिये कहें और उस काम के करने में अपने को मेहनत पड़ती हो या धनका खर्च हो तो हो अथवा दूसरा और कोई कष्ट सहन करना पड़ता हो तो भी वह काम लिहाज से कर देना चाहिये। इसे सुदाक्षिण्यता कहते हैं।

यदि कभी उपरोक्त पुरुष अकार्य करने को कहें, तो वह करना या कि नहीं ? ऐसी कोई शंका करे तो उसे कहना चाहिये कि प्रथम तो उत्तम पुरुष वैसे अकार्य करने को कहते ही नहीं ? यदि दैवयोग से कह भी दिया तो दाक्षिण्यता रखने की कोई जरूरत नहीं, इस गुणवाला पुरुष जगत् में प्रिय होता है । इस वास्ते इस गुण की श्रावकों में खास आवश्यकता है । उपरोक्त चार गुणों को सदाचार कहा है और भी कहा है कि—

सर्वत्रनिन्दा सन्त्यागो वर्णवादास्तु साधुषु ।
आपद्य दैन्यमत्यन्तं तद्वत्संपदि नम्रता ॥

सर्वत्र निन्दा का त्याग, सत्पुरुषों की प्रशंसा, अत्यन्त कष्ट में अदीनता, और वैसे ही संपत्ति में नम्रता रखनी चाहिये ।

विवेचन—सर्वत्रनिन्दा सन्त्यागः-किसी भी मनुष्य को किसी भी व्यक्ति की निन्दा नहीं करनी चाहिये, परन्तु विपरीत आचरण वाले को देखकर और उस पर करुणा लाकर उसे अपने शक्य उपायों से उसे सन्मार्ग पर चलाने की जरूरत है। यदि उपाय करने पर भी विपरीत काम के करने वाला कुमार्ग का त्याग न करे तो उसपर उदासीनता धारण करनी चाहिये । परन्तु द्वेष धारण करके उसकी

निन्दा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि निन्दा करने से निन्दा करने वाले की आत्माको किसी प्रकार का लाभ नहीं होता, उलटा उसके अवगुणों का प्रतिबिम्ब पड़ने से आत्मा मलिन हो जाता है जैसा कि जिनेश्वर या महर्षियों के गुणों का कीर्तन करने वाले की आत्मा निर्मल होती है वैसे ही निन्दा करने वाले की आत्मा मलिनता को प्राप्त होती है, इसलिये किसी भी व्यक्ति की निंदा करके व्यर्थ आत्मा को कलुषित करना उचित नहीं। इनमें राजा, मंत्री, देव, गुरु, संघ और सज्जन पुरुषों की निन्दा का त्याग तो अवश्यमेव करना ही चाहिये। नहीं तो रोहिणी के समान नरक और तिर्यञ्च गति के अति तीव्र दुःखों का अनुभव करना पड़ेगा। ऐसा विचारकर निन्दा का परित्याग करना ही ठीक है।

वर्णवादास्तु साधुषु-सत्पुरुषों की प्रशंसा करनी उनकी शान्तता, गम्भीरता, शौर्य, नम्रता, सहनशीलता, विषय-विमुखता, वचन माधुर्य, निरभिमानता, गुणज्ञता, निपुणता, सरलता, सौम्यता, दाक्षिण्यता, अदीनता, सर्वजन वल्लभता, प्रामाणिकता, परोपकारिता, निःसंगता, निर्भयता, निर्लोभता, दीर्घदर्शिता, धर्मपरायणता, संसार विमुखता तथा औदार्य, धैर्य, सौजन्य, औचित्य, विनय, विवेक, अनुभव, सदाचार और

पापभीरुत्व वगैरह अनेक गुणों को स्मरण करना और उन्हें प्रकट करने के लिये यथाशक्ति उचित प्रथा करनी चाहिये, क्योंकि महात्माओं के ऐसे उत्तम गुण धार्मिक और नैतिक अवनति के प्रसंग पर सचमुच एक सहारारूप होजाते हैं फिर उनकी की हुई प्रशंसा उत्तरोत्तर गुणप्राप्ति, पुण्य वृद्धि, राजपदवी, स्वर्ग तथा यावत् मोक्ष के फल को भी देने वाली होती हैं, इसलिये सत्पुरुषों के गुणों को दृष्टिगोचर करके उनकी प्रशंसा करनेमें उदासीनता धारण करनी युक्त नहीं है क्योंकि आगे कहने में आने वाला श्रेष्ठ पुरुषों की प्रशंसा करने वाला और उदासीनता रखनेवाला दो चोरों के उदाहरण की तरह शुभाशुभ फल को पाता है, इसलिये विशेष धर्माभिलाषी पुरुषों को उदासीनता को छोड़कर सत्पुरुषों के गुणों की प्रशंसा अवश्यमेव करनी चाहिये।

आपद्यदैन्यमत्यन्तम्—चाहे कैसी भी आपत्ति आजावे तो भी अतिशय दीनता को धारण नहीं करना चाहिये, ऐसे अवसर पर आत्माकी शक्ति का विचारकर ऐसा मनन करना उचित है कि पूर्व भव सम्बंधी कोई निकाचित कर्म उदय आगया है तो उसे समभाव से भोगना ही आपत्ति के विनाश करने में औषधिरूप है। मेरे दीन होने की या याचना करने की कुछ आवश्यकता नहीं। उदय हुए कर्म के फल नष्ट होने पर आत्मा स्वयमेव कर्म जनित आपत्ति से रहित हो जायगा अर्थात्

मेरी आत्मा में रहे हुए अनन्तगुण या सुख प्रकट होने से सब क्लेशों का नाश हो जायगा, ऐसा विचार कर समभावमें रहने की प्रवृत्ति करनी योग्य नहीं है, भाव यह है कि अपनी दीनता प्रकट करने से केवल अपनी दुर्बलता विशद होती है, तथा किसी बात की सिद्धि भी नहीं होती ।

तद्वत्संपदि नम्रता--उसी प्रकार संपत्ति में नम्रता रखनी उचित है, कदाचित् यदि पुण्योदय से संपत्ति प्राप्त हो तो अहंकार न करना बल्कि नम्र रहना उचित है । ऐसे ही भाग्योदय होने से यह विचार करना योग्य है कि मेरे पुण्योदय से यह संपत्ति, स्वजन और सन्तति (औलाद) आदि अनुकूल पदार्थ मुझे प्राप्त हुए हैं तो ऐसे अवसर पर मुझको सम परिणामावस्था में रहकर अस्थिर संपत्ति से मदान्ध न होकर नम्रता धारण करनी लाज़मी है, और इस संपत्ति को स्थिर करने का यह उपाय ठीक है, अपनी लक्ष्मीको जैनागम जैनमंदिरों के जीर्णोद्धार, दीनो-द्धार, सत्पात्र और ज्ञान, दानादिक में लगाना योग्य है क्योंकि प्राप्त लक्ष्मी को शुभ कार्य में व्यय करने से पुण्य की वृद्धि होती है, और पुण्य की वृद्धि से लक्ष्मी स्थिर रहती है जबकि चक्रवर्ती और इन्द्र की महान् समृद्धि भी नश्वर है तो इस दशा में अस्थिर संपत्ति को पाकर रंक श्रेष्ठी के मानिन्द अहंकार करना सर्वथा अनुचित है। कहा भी है कि--"**नमन्ति सफला वृक्षाः**"

जब वृक्ष फलते हैं तब वे नम्र होजाते हैं इसी तरह जैसे संपत्ति प्राप्त होती जाय वैसे विशेष नम्रता रखने की ज़रूरत है और उसी में ही शोभा है, परलोक में भी धनमद से धन नाश, मान-हानि, दरिद्रता वगैरह दुःख प्राप्त होता है, इसलिये धनमद परलोक में भी हितकारी नहीं है बस नम्रता ही संपत्ति का भूषण है। यह गुण श्रेष्ठ पुरुषों को जरूर ग्रहण करना चाहिये।

प्रस्तावे मितभाषित्व मवि संवादनं तथा।
प्रतिपन्न क्रिया चेति कुलधर्मानुपालनम् ॥

अर्थ–प्रसंग आने पर जितना जरूरी हो उतना ही बोलना, तथा विरोध न करना, क्रिया अंगीकार करना, कुल धर्म का पालन करना।

विवेचन—'प्रस्तावे मितभाषित्वम्'-प्रसंग आनेपर आवश्यकता के अनुकूल बोलना चाहिये, क्योंकि असंबद्ध या संबहित भी वाक्य विशेष बोलने से श्रोताजन को उद्वेग करने वाले हो जाते हैं, और न कुछ उनपर असर पड़ता है, कभी कोई ऐसा कहे कि तब तो शास्त्रादिका विस्तृत वर्णन करना भी ठीक न होगा। उसका उत्तर यह है कि जिनेश्वरदेवकी वाणीमय अगाध शास्त्रों में से जितना बोला जाय उतना ही थोड़ा है। इसलिये प्रयोजन पूर्वक और प्रमावोत्पादक बोलना चाहिये। बोलने से

प्रथम अन्तरंग विचार होने से मन में संकल्प विकल्प का जाल उत्पन्न होता है, बाद में भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहणकर मुखद्वारा प्रकट करता है, इसलिये तोल और बोल द्वाराही होना चाहिये।

अविसंवादन तथा–किसी के साथ भी विरोध नहीं करना, क्योंकि विरोध करने से परस्पर में बैर बढ़ता है. और आर्त्त तथा रौद्र ध्यान होने से मनुष्य जन्म का फल जो स्वर्ग वा मोक्ष है तथा उसके बदले पूर्वोक्त दुर्ध्यान आत्मा को नरक गति या तिर्यञ्चगति में ले जाने की सामर्थ्य हो जाती है इसलिए विचारशील पुरुषों को विरोध से प्रथम विचार कर लेना उचित है कि इस विरोध के कारण मुझे क्या लाभ अथवा हानि होगी, इसमें भी श्रावकों को और मुनि महाराजाओं को तो सर्वथा ही विसंवाद को त्यागना ही योग्य है, भाव यह है कि श्रावकवर्ग या साधुवर्ग सदा प्रतिक्रमण में "मित्तीमे सव्वभूएसु" इस महावाक्य को स्मरण करते हैं, अतः पूर्वोक्त महानुभावों को किसी के साथ भी विरोध करना उचित नहीं है।

प्रतिपन्नक्रिया–स्वीकृत कार्य में यदि विघ्न आपड़े तो भी निर्भय होकर प्रारम्भित कार्य को पूर्ण करने में प्रयत्नवान् होना आवश्यकीय है। कार्य के आरम्भ करने में प्रथम कार्य के गुण, दोष, अपनी शक्ति, सहायक, द्रव्य क्षेत्र, काल और भावका पूर्ण

विचार करके प्रारम्भ करना चाहिये, जो कार्य अपनी शक्ति के अनुसार अपने हाथ से बन सकता हो तो उसी कार्य को हाथ में धारण करना चाहिये। क्योंकि उसके परिपूर्ण होने में सन्देह नहीं रहता, परन्तु दूसरों के ऊपर आधार रखकर कार्य को हाथ में नहीं लेना चाहिये, इसमें ऐसा नहीं समझना कि कोई काम हाथ में लेना ही नहीं ? किन्तु लिखने का मतलब यह है कितनेक मनुष्य कार्य के प्रारम्भ में तो उत्साही होते हैं मगर कोई ऐसा विघ्न आने पर उसे मध्यम पुरुषों के समान बीच में छोड़ देते हैं परन्तु ऐसा करना उचित नहीं। उत्तम पुरुष बनने की आवश्यकता है। कहा भी है—

प्रारभ्यतेन खलु विघ्नभयेननीचैः ।
प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्तिमध्याः ॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति ॥

अर्थ—विघ्नों से डरकर जघन्यपुरुष कार्य का आरम्भ नहीं करते, मध्यमपुरुष कार्य के मध्य में विघ्न होने से प्रारम्भित कार्य को छोड़ देते हैं। विघ्नों के आने पर भी उत्तम पुरुष प्रारम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते। इसलिये हर एक पुरुष को श्रेष्ठकार्य करने में अपना बल पराक्रम दिखाना चाहिये।

कुलधर्मानुपालनम्-कुल धर्म का पालन करना, श्रावक के कुल में उत्पन्न होने पर भी खोटी संगत में अपने शुद्धाचार को त्यागकर नीच जनों का वेष तथा दुराचारों के ग्रहण करने में ही श्रेष्ठता माननी उत्तम श्रावक को किसी प्रकार भी योग्य नहीं है, भाग्योदय से प्राप्त हुए जैनधर्म और शुद्धाचारों का श्रावक को अन्त समय तक भी त्याग नहीं करना चाहिये। यहां पर अन्य कुल की उपेक्षा करके श्रावक कुल में होने से श्रावक के आचार का ही ग्रहण किया है। और भी कहा है—

असद्द्रव्य परित्यागः स्थानेचैव क्रियासदा।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विवर्जनम्॥

अर्थ—फिजूल खर्च का त्याग करना उचित स्थान में ही हमेशा क्रिया करनी, उत्तम कार्य में आग्रह रखना, और प्रमाद का त्याग करना, यह श्रावक का कर्त्तव्य है।

विवेचन—असद्द्रव्य परित्यागः-फजूल खर्च का त्याग करना, क्योंकि ऐसा करने से धन का नाश और पाप की वृद्धि होती है, खोटे मार्ग में खर्च करने से इस लोक में दरिद्रता तथा अपकीर्ति और परलोक में दुर्गति आदि के दुःखों का सहन करना पड़ता है, और असत् कार्य में द्रव्य का व्यय करने से मनुष्य भव के योग्य श्रेष्ठ और पुण्यकार्य जिस द्रव्य से होना

विचार करके प्रारम्भ करना चाहिये, जो कार्य अपनी शक्ति के अनुसार अपने हाथ से बन सकता हो तो उसी कार्य को हाथ में धारण करना चाहिये। क्योंकि उसके परिपूर्ण होने में सन्देह नहीं रहता, परन्तु दूसरों के ऊपर आधार रखकर कार्य को हाथ में नहीं लेना चाहिये, इसमें ऐसा नहीं समझना कि कोई काम हाथ में लेना ही नहीं? किन्तु लिखने का मतलब यह है कितनेक मनुष्य कार्य के प्रारम्भ में तो उत्साही होते हैं मगर कोई ऐसा विघ्न आने पर उसे मध्यम पुरुषों के समान बीच में छोड़ देते हैं परन्तु ऐसा करना उचित नहीं। उत्तम पुरुष बनने की आवश्यकता है। कहा भी है—

प्रारभ्यतेन खलु विघ्नभयेननीचैः।
प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्तिमध्याः॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥

अर्थ—विघ्नों से डरकर जघन्यपुरुष कार्य का आरम्भ नहीं करते, मध्यमपुरुष कार्य के मध्य में विघ्न होने से प्रारम्भित कार्य को छोड़ देते हैं। विघ्नों के आने पर भी उत्तम पुरुष प्रारम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते। इसलिये हर एक पुरुष को श्रेष्ठकार्य करने में अपना बल पराक्रम दिखाना चाहिये।

कुलधर्मानुपालनम्-कुल धर्म का पालन करना, श्रावक के कुल में उत्पन्न होने पर भी खोटी संगत में अपने शुद्धाचार को त्यागकर नीच जनों का वेष तथा दुराचारों के ग्रहण करने में ही श्रेष्ठता माननी उत्तम श्रावक को किसी प्रकार भी योग्य नहीं है, भाग्योदय से प्राप्त हुए जैनधर्म और शुद्धाचारों का श्रावक को अन्त समय तक भी त्याग नहीं करना चाहिये। यहां पर अन्य कुल की उपेक्षा करके श्रावक कुल में होने से श्रावक के आचार का ही ग्रहण किया है। और भी कहा है—

असद्द्रव्य परित्यागः स्थानेचैव क्रियासदा।
प्रधानकार्ये निर्बन्धाः, प्रमादस्य विवर्जनम्॥

अर्थ—फिजूल खर्च का त्याग करना उचित स्थान में ही हमेशा क्रिया करनी, उत्तम कार्य में आग्रह रखना, और प्रमाद का त्याग करना, यह श्रावक का कर्त्तव्य है।

विवेचन—असद्द्रव्य परित्यागः-फजूल खर्च का त्याग करना, क्योंकि ऐसा करने से धन का नाश और पाप की वृद्धि होती है, खोटे मार्ग में खर्च करने से इस लोक में दरिद्रता तथा अपकीर्ति और परलोक में दुर्गति आदि के दुःखों का सहन करना पड़ता है, और असत् कार्य में द्रव्य का व्यय करने से मनुष्य भव के योग्य श्रेष्ठ और पुण्यकार्य जिस द्रव्य से होना

था वह रह जाता है, जिससे अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है। इस वास्ते असत् कार्यमें द्रव्य व्यय करने से प्रथम शुभाशुभ फल का मनन कर और भविष्यत् कालमें किसी भी प्रकार की आपत्ति सहन न करनी पड़े वैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये। और विवाह आदि के मौके पर दूसरे धनाढ्यों के साथ ईर्षा न करके समयोचित और अपनी शक्ति के अनुसार धन का व्यय करना उचित है।

"स्थानेचैव क्रिया"– हर एक क्रिया योग्य स्थान में ही करनी चाहिये। अनुचित स्थान पर क्रिया करने से जैसी चाहिये वैसी सफलता नहीं होती है। जैसा कि सिद्धगिरि आदि पवित्र क्षेत्रों में प्रभुभक्ति, ब्रह्मचर्य, सामायिक, प्रतिक्रमण, जप, तप, ध्यान और मुनिदान इत्यादि जैसा स्थिर चित्त से हो सकता है, वैसा अपने गाम या घर में प्रायः नहीं हो सकता, और जैसी साधुओं के समीप या उपाश्रय में धर्मक्रिया होती है वैसी अन्य स्थान में नहीं हो सकती, इसलिये विचारवान् पुरुषों को योग्य स्थान पर ही क्रिया करनी चाहिये।

"प्रधानकार्ये निर्बन्धः"—उत्तम कार्य करने में आग्रह करना चाहिये, उसका सबब यह है कि, इस चराचर जगत् में प्राणीमात्र को अनेक काम करने हैं, ऐसा होने पर भी उनको

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चार विभागों में प्रविष्ट होना उचित है, इनमें अर्थ और काम की प्राप्ति धर्म के करने से ही होती है तौभी विवेक बिना उनका (अर्थ और काम) सेवन करनेवाला दुर्गति का भागी होता है, इसलिये ग्रन्थकर्त्ता ने उन्हें गौणता रखकर अनन्त सुख देनेवाले मोक्षरूप पुरुषार्थ को ही प्रधान माना है, और वह धर्मरूप पुरुषार्थ के सिद्ध होने से ही प्राप्त होता है। इसलिये धर्म ही प्रधान कार्य है। कहा भी है कि—

त्रिवर्ग संसाधन मन्तरेण पशोरिवायु विंफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति नतंविना यद्भवतो ऽर्थकामौ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग का साधन किये बिना मनुष्य का आयु (जीवन) पशु के समान व्यर्थ है, उनमें भी पण्डित पुरुष धर्मको ही प्रधान कहते हैं। क्योंकि उसके बिना अर्थ और काम की प्राप्ति नहीं होती, इसवास्ते विवेकीजनको धर्मरूप प्रधान कार्य में सतत प्रवृत्ति करनी चाहिये।

प्रमादस्य विवर्जनम्—प्रमाद का त्याग करना, कारण उसका यह है कि प्राणिमात्र का कट्टर दुश्मन प्रमाद ही है, और जो शत्रु होता है, उसका त्याग करना दुनियाँ का एक कुदरती नियम है। अतः प्रमाद शत्रु का त्याग करने के बदले उसकी

सेवा करनी प्राकृत नियम से सर्वथा विरुद्ध है; जैसे कोई राजा हुक्म करे कि मेरी तमाम प्रजा को एक घंटे तक मेरी सेवा करनी चाहिये, राजा की इस आज्ञा को लोग अत्याचाराज्ञा मान उस के प्रतिकार करने से नहीं बाज आयेंगे। ऐसे ही प्रमादरूप राजा प्राणियों को भ्रमजाल में डालकर अपनी सेवा कराता है तो फिर उसकी सेवा से मुक्त होने के लिये यथाशक्ति प्रयास क्यों नहीं करना चाहिये, जिस प्रमादी राजा की आज्ञा तीन लोक के प्राणीमस्तक पर चढ़ाते हैं, उसके मुख्य पांच भेद हैं, और गौणता करके प्राणियों के विचित्र स्वभाव के कारण अनेक भेद होते हैं, वे सभी त्याग करने योग्य हैं यह प्रमाद किस समय या किस रूप में आवेगा यह नियम नहीं है। इसलिये साधु और श्रावकों को इस शत्रु से सावधान रहकर हमेशा आत्मा में जागृति रखनी चाहिये, उसे लेशमात्र भी स्थान नहीं देना, क्योंकि संसार की वृद्धि करनेवाला और पूर्वधरों को भी निगोद तक खेंच ले जानेवाला यही एक है। कहा है कि—

> मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहाय पंचमी भणिया।
> ए ए पंच पमाया, जीवं पाडन्ति संसारे॥

० मद्य पाँच इन्द्रियों

कषाय, पांच प्रकार की निद्रा और चार प्रकार की विकथा, ये पांच प्रमाद जीव को संसार में गिराते हैं। इस गाथा पर विचार करते ऐसा मालूम होता है कि कोई भव्य प्राणी सांसारिक कार्यसे वक्त निकाल धर्म कृत्य करनेको तत्पर होता है तो तत्काल पूर्वोक्त प्रमाद आगे आकर धर्म-कार्य करने से रोकता है, उस वक्त उस में नजर कर आत्मवीर्य को प्रकाश में लाकर प्रमाद का पराजय-कर धर्म कार्य के करने में तत्पर रहना उचित है। जो काम आज करना हो उसे कल पर छोड़ना योग्य नहीं है। किसी ने कहा है—

काल करंता आजकर आज करे सो अब।
अवसर बीता जात है फिर करेगा कब॥

इस कविता का विचार करके जो शुभ कार्य करना हो उसे शीघ्र ही कर लेना चाहिये, क्योंकि —**"श्रेयांसि बहु विघ्नानि"** शुभ कार्य में बहुत से विघ्न आते हैं। अतः श्रेष्ठ कार्य में विलम्ब करना योग्य नहीं और भी कहा है—**"धर्मस्यत्वरितागतिः"** धर्म की गति बड़ी शीघ्र होती है, इसीलिये भगवान् देवाधिदेव श्री-महावीर स्वामीने प्रथम गणधर श्रीगौतम स्वामीजी (जो हमेशा अप्रमत्त रहते थे) को उद्देश्य करके भव्य जीवों पर उपकार करने के लिए स्वमुख से जैनागमों में फरमाया है—**"समयं गोयम मा पमाए"** हे! गौतम समय मात्रभी प्रमाद नहीं करना, इस महा-

वाक्य से प्रमाद कैसा प्रबल है यह स्पष्टतया मालूम हो जाता है। मैं सुश्रावक हूँ, अथवा सर्वोत्तम साधु हूँ, ऐसा निरर्थक अहंकार न करके प्रमाद के त्याग करने में सतत प्रयास करना चाहिये, नहीं तो कंडरीक और मंगवाचार्य के समान दुर्गति के दुःख सहन करने का समय आ जायगा। और भी कहा है—

लोकाचारानुवृत्तिश्च सर्वत्रौचित्य पालनम्।
प्रवृत्तिर्गर्हितेनेति प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥

अर्थ—लोकाचार का अनुकरण करना, सर्वत्र औचित्य का पालन करना, और प्राण कण्ठ तक आने पर भी निन्दित कार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी।

विवेचन—लोकाचारानुवृत्तिश्च लोक महाजन उनका जो आचार उसे लोकाचार कहते हैं, उसके मुताबिक चलना चाहिये, कहा भी है—'**महाजनो येनगतः सपन्थाः**' महान् पुरुष जिस मार्ग पर चलें वही मार्ग है और वह मार्ग अन्य पुरुषों को अनुकरणीय है। इस वास्ते द्रव्यक्षेत्र, काल और भावका विचारकर लोकाचार के पालन करने में प्रयत्न करना चाहिये। प्राणी देशाचार, कुलाचारको लोकाचार गिनकर (... आचार लोक विरुद्ध हो या शास्त्र विरुद्ध ...) करने में नकाराही करेंगे। परन्तु उन्[illegible]

करना योग्य नहीं है, क्योंकि जिससे दोनों लोक में अहित होता हो, और जिन आज्ञा का भंग होता हो वैसा आचार लौकाचार नहीं हो सकता । ऐसे मनःकल्पित लोकाचार का अनुकरण करना सर्वथा अयोग्य है। शुद्ध लोकाचार प्राणीमात्रको धर्म की प्राप्ति और आत्महितका कारणभूत होजाता है, इसलिये विवेकीजनों को लोकाचार का उल्लंघन करना उचित नहीं है ।

सर्वत्रौचित्य पालनम्–सर्वत्र औचित्यका पालन करना, क्योंकि सांसारिक कार्योंमें समयानुसार उचित प्रवृत्ति करने में न आवें तो लोगों में मानहानि, और मदान्धता विवेक शून्यता आदि दोष प्रकट होते हैं । और धर्मकी अपभ्राजना होने का भी मौका आजाता है इसलिये विवेक पूर्वक ही प्रवृत्ति करनी युक्त है । कहा है-कि **'विवेको दशमो निधिः'** इस वाक्यके अनुसार वह, ज्ञानी-अभ्यागत, श्रेष्ठ तथा कनिष्ट बन्धु और सत्पुरुषों के साथ उचित आचरण करना और किसी भी व्यक्ति को अप्रिय लगे ऐसी प्रवृत्ति कभी नहीं करनी चाहिये ।

प्रवृत्तिगर्हितेनेति–प्राण चाहें कण्ठ तक भी आजावें तो भी निन्दित कार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी । जिस काम के करने से आत्मगुण की हानि, भगवान् की आज्ञाका भंग तथा लोकापवाद हो ऐसे कार्यों का प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिये और निन्दित काम के करने से **सत्यकी विद्याधर की तरह** इस लोक वा परलोक में आत्माका अहित होता है । पूर्वोक्त

का आचरण ग्रहण करने योग्य है। इसलिये धर्माभिलाषी पुरुषों को सदाचार ग्रहण करने से वञ्चित नहीं रहना चाहिये। कहा है—

विपद्युच्चैः स्थेयं पद मनु विधेयञ्च महतां
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिन मसुभंगेप्यसुकरम्।
असन्तोनाभ्यर्थ्याः सुहृदपिनयाच्यः कृशधनः
सतां केनोदिष्टं विषममसिधारा व्रतमिदम् ॥

अर्थ—आपत्ति के समय उच्चस्थिति में रहना, महापुरुषों का अनुयायी बनना, उचित वृत्ति में प्रीति रखनी, प्राणों के नाश होने पर भी अनुचित कार्य न करना तथा दुर्जन से प्रार्थना का न करना और धन रहित होने पर भी याचना न करनी, यह अति विषम तथा तलवार की धारा के समान कठिन व्रत सत्पुरुषों को किसने बताया होगा? यह शिष्टाचार प्रशंसा धर्मरूप बीज का आधार और परलोक में धर्म प्राप्ति का कारण होने से मोक्षरूप कार्य का कारण होता है, जैसे चोर के दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट होजाती है। कौशाम्बीपुरी में सत्—भूत गुणों का भण्डाररूप और जैनधर्म के रहस्य से उल्लासित जितारि नाम का राजा था। उसकी नगरी में अति समृद्धिवान् 'धन', 'यक्ष' नामक दो सेठ रहते थे उनमें से धन सेठ के स्वकुलनन्दन धर्मपाल नामका पुत्र था। एवं यक्षसेठ के घर में भी द्रव्य की वृद्धि करनेवाला वसुपाल नामक पुत्र था। अनुक्रम से वे दोनों युवावस्था को प्राप्त हुए और पूर्वजन्म के संस्कारवश बाल्यावस्था से

ही उन दोनों की दूध तथा पानी के समान अत्यन्त आश्चर्यप्रद मैत्री होगई दोनों मित्रों में से एक को जो वस्तु प्रिय लगती, वही दूसरे को भी। इस कारण वहां की जनता में ऐसी प्रसिद्धि हो गई कि इन दोनों के समान चित्त हैं, इस प्रकार वे दोनों मित्र प्रसिद्धि को प्राप्त हो सुखपूर्वक दिनों को व्यतीत करते थे, इसी अवसर में कौशम्बी नगरी के एक बाग में जगद्वत्सल श्रीमहावीर स्वामी का आगमन हुआ, और देवताओं ने समवसरण की रचना की, श्रीभगवान् का आगमन सुनकर नगर निवासी लोगों के साथ जितारि राजा वीरप्रभु को वन्दनार्थ गया, इसी शुभावसर में परम कौतूहली वे श्रेष्ठिपुत्र भी भगवान् को वन्दना करने गये, उस समय वीरप्रभु ने देशना देनी आरम्भ की, उन दोनों वणिक पुत्रों में से एकको तो भगवान की वाणी शुद्धश्रद्धा की उत्पादिका हुई। वह वणिक पुत्र अपने कर्णरूप पात्र में अर्पित भगवान के वचनों को अमृत के समान पान कर रहा है, और दूसरे को भगवान की वही वाणी रेत के ग्रास के समान विरुद्ध प्रतीत होरही है। इससे वे दोनों मित्र पारस्परिक आशयको जान गये, धर्मोपदेशके अनन्तर दोनों श्रेष्ठिपुत्र समवसरणसे उठकर अपने स्थान पर चले गये, वहाँ पर उन दोनों में से एक ने कहा—हे भाई! तू जिन वाणी से अच्छी तरह भावित हुआ है और हे मित्र! मुझ पर उसका कुछ प्रभाव नहीं हुआ, इसका क्या कारण होगा, और लोगों में हम आज तक एक चित्तवाले प्रसिद्ध थे

परन्तु इस समय तो दोनों का मन जुदे जुदे विचार वाला हुआ है इसका भी क्या कारण होगा ! इस बात को सुनकर चकित हृदय से दूसरे मित्र ने कहा हे भाई ! तेरा कहना सत्य है, मुझको भी इस विषय में सन्देह है, परंतु इस बारे में हम दोनों का केवल प्रश्न करने से वही केवलज्ञानी निर्णय करेंगे। इसलिए आगामी दिन को उन्होंके ही पास जायेंगे ऐसा निश्चय कर, वे दोनों मित्र प्रातःकाल वीर परमात्मा के चरणों में पहुंचे, वहां विनयपूर्वक प्रभु का आराधन कर अपने सन्देह को पूछा। उत्तर में श्री वीर प्रभु ने कहा—'कि पूर्वभव में तुम्हारे दोनों में से एक ने मुनि की प्रशंसा की थी' यह वृत्तान्त इस प्रकार है—

किसी ग्राम में तुम दोनों एक गरीब मनुष्य के पुत्र थे, सुन्दरता का स्थान रूप यौवन अवस्था के प्राप्त होने से तुम उस वय के विकार को प्राप्त हुए परन्तु संपत्ति के न होने से लेशमात्र भी तुम्हारा मनोरथ किसी भी तरह पूर्ण न हुआ। तब तुमने चौर्यरूप अनार्यकर्म करना प्रारम्भ किया। एक वक्त रात्रि के समय दूसरे ग्राम में जाकर अति शीघ्रता से तुमने गायों का हरण किया, जब तुमको कोतवाल ने आकर त्रास पहुँचाया तो तुमने भाग जाने की तैयारी की। आखिर भागते हुये तुम एक पर्वत की गुफा में पहुंचे, वहां तुमने ध्यानावस्थित एक मुनि को देखा, उस वक्त धर्मपाल के जीवने ऐसा विचार किया कि अहो! सदाचार का खजाना मुनिधर्म धन्य है जो इस तरह निर्भय शांत

और संग रहित ऐसी गुफा में रहता है, और हम अधन्यसे भी अधन्य हैं क्योंकि द्रव्य के लालच से ऐसे विरुद्ध कार्य करने से हम पराभव को प्राप्त होते हैं, अरे ? धिक्कार हो हम पर । हमने अपनी आत्मा का नाश किया अरे ? हमें मरकर कौन सी गति प्राप्त होगी । और दुःखी अवस्था के कारण हम उभयलोक विरुद्ध कार्य के करने वाले बने । जैसे इस मुनिमहात्मा का आचरण पाप रहित और निर्मल है वैसे ही हमारा इनसे विपरीत है सो फिर ऐसे विरुद्ध आचरण से हमारा कल्याण कैसे होगा ? इस तरह से धर्मपाल के जीव ने मुनिमहाराज की प्रशंसा की और वसुपाल के जीव ने महात्माजी की तरफ उदासीन-वृत्ति रक्खी । उन दोनों में से एक ने सम्यक्त्व प्राप्त किया और दूसरे को प्राप्त नहीं हुआ । बादमें कषायके कम होने से और दान देने की रुचि होने से तुम दोनों ने मनुष्यभाव के योग्य शुभकर्म को बांधा और आयु के सम्पूर्ण होने के बाद तुम दोनों कौशाम्बी नगरी में श्रेष्ठ आचार वाले और वणिक धर्म में प्रवीण सेठों के घर पुत्र रूप से जन्मे । पूर्वजन्म के संस्कारसे धर्मपाल को बोधि बीज का फल प्राप्त हुआ है और वसुपालको सम्यक्त्व का अभाव होने से यहां पर भी बोधिरूप फल प्राप्त नहीं हुआ । इस पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनने से धर्मपालने जाति स्मरण ज्ञान को प्राप्त किया और दृढ़ निश्चय होने से भाव पूर्वक प्रभु के कथन

किये हुए धर्मों में तत्पर रहकर मोक्ष जायगा और वसुपालने शिष्टाचार प्रशंसकगुण न होने से संसार में परिभ्रमण करेगा।

(यह चोर दृष्टान्त समाप्त हुआ)

उपरोक्त फलाफल का अच्छी तरह से विचार करके उत्तम श्रावकों को शिष्टाचार प्रशंसक और गुणानुरागी होना चाहिये। कहा है कि—

अकुर्वन्नपि सत्पुरुषं शिष्टाचार प्रशंसया।
दम्भ संरम्भ मुक्तात्मा प्राणी प्राप्नोति तत्फलम्॥

अर्थ—पुण्य के कार्य को नहीं करनेवाला भी प्राणी कपट और कोप से रहित होकर शिष्टाचार की प्रशंसा बोधिबीज को प्राप्त कर लेता है।

विवेचन—कोई पुरुष अन्तराय कर्म के उदय होने से पुण्यकार्य नहीं कर सकता हो तो भी उसे शिष्टाचार की प्रशंसा करनी योग्य है, क्योंकि इस प्रशंसा बल से शिष्टाचार में प्रवृत्ति करने की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है और उससे बोधिबीज की प्राप्ति होती है और सम्यक्त्व के प्राप्त होते हुए अनुक्रम से अनंतानुबन्धी कषाय और दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय होने से तत्त्वबोधरूप शुद्ध सम्यक्त्व आत्मा में प्रकट होता है और अवशिष्ट कषाय मन्द हो जाते हैं। इससे जिनेन्द्रकथित धर्म का विशेष आराधन करने और उत्तरोत्तर आत्म-शुद्धि होने से देशविरति और सर्वविरति धर्म को प्राप्त होता है और उसमें स्वर्ग या मोक्ष

के सुख को प्राप्त कर सकता है। इसलिये किसी भी प्रकारसे शिष्टाचार की प्रशंसा करने से वञ्चित नहीं रहना चाहिये। कहा है कि—

बिभ्राणोऽपि गुण श्रेणी रन्येषुगुणमत्सरी:
निमज्जत्येव संसारे मुग्धो दुःखा कुलाशयः।

अर्थ—अनेक गुणों का धारण करता हुआ भी दूसरे के गुणों में ईर्ष्या रखनेवाला और दुख से आकुल हृदय मुग्धपुरुष संसार में ही निमग्न रहता है।

विवेचन—गुण श्रेणी को धारण करने वाला हो तो भी ईर्ष्या के लिये दूसरे गुणी पुरुष के गुणका उत्कर्ष सहन न होने से और गुण के अंदर मत्सरता को धारण करके वह मुग्ध पुरुष संसार में परिभ्रमण करता है, क्योंकि अपने गुणों का गर्व और दूसरे के गुणों में द्वेष होने से आत्माका गुण वृद्धि के बदले हानि को प्राप्त हुआ आत्मा को मलिन बनाता है और उसी तरह से संसार में भ्रमण होता है; जैसा कि दो मुनियों के उदाहरणों से प्रसिद्ध है—

एक उपाश्रय में नीचे ऊपर उतरे हुए दो मुनियों में से एक तपस्वी था और एक नित्यभोजी था, एक दिन तपस्वी ऋषिराज किसी गृहस्थ के घर भिक्षा के लिये गया वहां पर दाता के आगे नित्य खानेवाले की निंदा और अपनी श्लाघा करके चला गया।

पीछे से उसी गृहस्थ के मकान में हमेशा भोजन करनेवाला मुनि भी भिक्षा के लिये आया, दाताने पूछा कि उपाश्रयमें दूसरा मुनि आया है। मुनिने कहा हां, एक महान् तपस्वी और गुणवान् मुनि पधारे हैं, उनके गुणों के आगे मेरे गुण तो लेशमात्र भी नहीं हैं।

उसके मुख अन्य के गुणों की प्रशंसा और आत्मनिंदा की बात सुनकर उस बाई को शंका पैदा हुई। एक समय कैवल्य ज्ञानी का समागम होनेसे बाई ने प्रश्न किया ? भगवन्! उन दो मुनियों में से किस मुनिका आत्मा उच्चकोटि का है ? केवल ज्ञानी ने उत्तर दिया कि नित्यभोजन करनेवाले की आत्मा उच्च दशा को प्राप्त हुई है और थोड़े ही समय में मोक्ष प्राप्त करेगा। इस उदाहरण से विवेकी पुरुषों को विचारकर गुणानुरागी होना चाहिये।

ग्रंथकर्त्ता इस दूसरे गुणका उपसंहार करते हुए शिष्टाचार की प्रशंसा करने के लिये उपदेश द्वारा आग्रह करते हैं।

अतो विवेकज्ञ जनेन शिष्टाचार प्रशंसा प्रवणेन भाव्यं विशुद्धधर्मोज्वल कीर्त्ति लाभाभिलाषिणाऽत्रोचित वृत्ति युक्तया।

अर्थ-पूर्वोक्त हेतुसे शुद्धधर्म और निर्मल कीर्तिकी अभिलाषा रखनेवाले विवेकी पुरुषों को उचित वर्तन पूर्वक शिष्टाचारकी प्रशंसा करने में शक्तिमान् होना चाहिये।

* यह दूसरा गुण समाप्त हुआ *

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर

की

नियमावली।

१—इसका मेम्बर हर एक हो सकता है।

२—फ़ीस मेम्बरी कम से कम २) वार्षिक है, अधिक देने का हरएक को अधिकार है। फ़ीस अगाऊ लीजाती है। जो महाशय एक साथ सोसायटी को ४०) देंगे, वह इसके लाईफ़ मेम्बर समझे जावेंगे। वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया जावेगा।

३—इस सोसायटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होता है। जो महाशय मेम्बर होंगे वे चाहे किसी महीने में मेम्बर बनें: चन्दा उनसे ता॰ १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक का लिया जावेगा।

४—जो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितर्ण कराना चाहें, उनका नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जायगा।

५—जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हर एक मेम्बर के पास बिना मूल्य भेजे जाया करेंगे।

सेक्रेटरी

श्राद्ध गुण विवरण

तीसरा भाग

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

परमर्षि श्री जिन मण्डन गणि विरचित

श्राद्ध गुण विवरण

(तीसरा भाग)

ट्रैक्ट नं० ७२

अनुवादक—

पन्यास श्री सोहनविजयजी महाराज

प्रकाशक—

मंत्री—श्री आत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर।

वीर संवत् २४५१ } प्रति १००० { विक्रम संवत् १९८१

आत्म संवत् २९ } मूल्य -)॥ { ईस्वी सन् १९२४

॥ श्री वीतरागायनमः ॥

श्राद्ध गुण विवरण ।

तीसरा भाग ।

अथ तृतीय गुण वर्णन

समान कुल तथा शील और अन्य गोत्रीय के साथ विवाह करनेरूप तीसरे गुणका वर्णन ।

"कुलशील समैःसार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः" पिता और पितामह (दादा-बाबा) आदि पूर्व पुरुषों के वंश को कुल कहते हैं; और मदिरा (शराब), मांस, रात्रि, भोजन और अन्त्यजादिक के भक्षण के त्यागरूप आचार को शील कहते हैं। अथवा समान देवगुरु और क्रियाकलाप के सेवम रूप आचार को भी शील कहते हैं। ऐसा कुल तथा शील जिसका हो वह समान कुल शील वाला कहलाता है, उपलक्षण से संपत्ति वेष और भाषादिक को भी ग्रहण कर लेना। क्योंकि यदि संपत्ति

आदि में न्यूनता हो तो कन्या अपने पिता की अपेक्षा अल्प वैभव वाले अपने पति की अवगणना करती है और अपने बाप के प्रचुर वैभव के अधीन होकर अहंकार को प्राप्त हुआ वर भी कन्या के पिता की निर्धनता के लिये पितृशाल रहित कन्या की अवगणना करता है। अमुक पुरुष से चली आई वंश परम्परा गोत्र कहाती है उसमें जो उत्पन्न हो उसे गोत्रीय कहते हैं। उससे जो अन्य गोत्रवाला हो, वहां पर ही विवाहादिक कार्य करना योग्य है, यहां पर नीति इस प्रकार की है। बारह साल की कन्या और सोलह का वर हो तो वे दोनों विवाह के योग्य गिने जाते हैं। वैसे विवाह पूर्वक संतान का उत्पन्न करना और पालन करना रूप जो व्यवहार वह चारों प्रकार के वर्णों को कुलीन बनाता है। अग्नि और देवादिक की साक्षी पूर्वक जो कन्या का हाथ पकड़ना वह विवाह कहाता है और वह विवाह आठ प्रकार का है:—वैभव के साथ कन्या को देना प्राजापत्य विवाह (१) दो गायों के दान पूर्वक कन्या देना उसे आर्ष (२) कन्या को शृंगार करके देना ब्रह्मविवाह (३) जहां यज्ञ की क्रिया कराने वाले को कन्या ही दक्षिणा देनी वह दैव विवाह है, (४) ये चार विवाह धर्म विवाह कहलाते हैं। माता-पिता, बन्धुवर्ग को स्वीकार न होने से परस्पर के अत्यन्त राग से एक दूसरे का मिलाप होना उसे गन्धर्व-कहते हैं (५) कीमत लेकर कन्या देनी वह असुर

विवाह (६) बलपूर्वक कन्या का ग्रहण करना राक्षसविवाह (७) सोई हुई अथवा प्रमाद से पड़ी हुई कन्या का ग्रहण करना पिशाच विवाह ८ ये चार अधर्म विवाह कहाते हैं। यदि वर और कन्या का परस्पर प्रेम हो तो अधर्म विवाह भी धर्म विवाह हो जाता है, पवित्र पत्नी वगैरह की प्राप्ति के फल वाला विवाह कहा जाता है। कहा है कि—

> कन्यां सतीमुत्तमवंशजातां
> लब्ध्वाऽधिकां याति न कः प्रतिष्ठाम्।
> क्षीरोदकन्यां गिरिराजपुत्रीं
> गोपस्तथोग्रश्च यथाधिगम्य॥

अर्थ—कृष्ण महाराज ने समुद्र की पुत्री लक्ष्मी को और शंकर ने हिमालय की पुत्री पार्वती को प्राप्त करके जैसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, वैसे ही सती और उत्तम वंश में उत्पन्न हुई कन्या को पाकर कौन पुरुष अधिक प्रतिष्ठा को नहीं पाता ?

जिसकी जिह्वा रसमयी है, भार्या सती और रूपवती है, लक्ष्मी त्याग वाली है उसी पुरुष का जीवन सफल है। इस संसार में निरन्तर क्लेशादिक के कारण अपयश या दुःख की प्राप्ति और अशुभ विचारों से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से परलोक में दुर्गति का भागी बनना पड़ता है इसलिये अपवित्र स्त्री का जो संसर्ग है वही नरक है। कहा है कि—

कुग्रामवासः कुनरेंद्रसेवा कुभोजनं क्रोध मुखी च भार्या।
कन्याबहुत्वं च दरिद्रता च षड्जीवलोके नरका भवन्ति ॥

अर्थ—खोटे ग्राम में निवास करना, खोटे राजा की सेवा, क्रोध मुखवाली स्त्री, बहुत कन्याओं का होना और दरिद्रता इस संसार में ये छः प्रकार के नरक कहलाते हैं।

वर और कन्या की पवित्रता का सूक्ष्म ज्ञान तो उनके गुण और लक्षणादिक को देखने से मालूम होता है। प्रथम तो आचार, कुल, सनाथता, विद्या, द्रव्य, शरीर, अवस्था ये सातगुण वर में देखने योग्य हैं।

छाती, मुख, और ललाट ये तीन विशाल हों और नाभि सत्त्व, स्वर, ये तीन गम्भीर हों तो श्रेष्ठ हैं। कण्ठ, पीठ, पुरुष चिन्ह और जंघा ये चार जिस पुरुष के लघु हों वह पूजनीक होता है। अंगुली सहित अंगुली पर्व, केश, नाखून, दांत, और चमड़ी, ये पांच जिसके सूक्ष्म हों वह मनुष्य सुख भोगता है। स्तन और दोनों आंखों के मध्य भाग, भुजा, नासिका, जबाड़ा, ये पांच जिस पुरुष के लम्बे हों वह श्लाघावाला और पुरुषोत्तम गिना जाता है। नासिका, कण्ठ, नाखून, मुख, कक्षा और हृदय जिसके उच्च हों वह हमेशा उच्च दशा को प्राप्त होता है। नेत्र, नाखून, जिह्वा, तालू, ओष्ठ और हाथ-पांव के तलवे जिसके लाल हों वह सिद्धि को प्राप्त

करता है। गति से वर्ण, वर्ण से स्नेह, स्नेह से स्वर, स्वरसे कांति और कांति से सत्व इस तरह उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। उपरोक्त बत्तीस लक्षणों में से सत्व सर्वोत्तम है क्योंकि सत्वगुणी पुरुष पुण्यशाली होता है, रजोगुणी विषयासक्त, और भ्रांति युक्त होता है। तमोगुणी पापी और लोभी होता है। इन तीनों में से सत्वगुणी उत्तम है। मूर्ख, निर्धन, दूर देश में रहनेवाले, शूरवीर, संसार त्यागने की इच्छा वाले, अनाथ और शीलहीन, पुरुष को कन्या नहीं देनी चाहिये। अति आश्चर्य जनक धन-वाले, आलसी, शीतादि दोषवाले, अपंग, रोगी, बहरे, नपुंसक, गूंगे, लंगड़े, अन्धे, शून्य हृदय वाले, और एक दम शस्त्र चलाने वाले पुरुषको भी कन्या नहीं देनी चाहिये। अधम कुल और अधम जाति वाले, माता पिता के वियोग वाले और पत्नी तथा पुत्र युक्त पुरुष को भी कन्या नहीं देनी चाहिये। अति वैर और अपवाद-वाले, जितनी आमदनी उतना ही खर्च करने वाले और प्रमादी मन वाले पुरुष को भी कन्या नहीं देना चाहिये। एक गोत्र वाले, जुआ और चोरी आदि व्यसनों से अपनी आत्मा को नाश करने वाले और परदेशी को भी चतुर आदमी कभी कन्या न देवे। यह वर के गुण दोष कहे गये हैं।

अब कन्या के गुण दोषों का हाल सुनिये:—

पीनोरुः पीनगण्डा लघुसमदशना पद्मनेत्रान्तरक्ता
बिम्बोष्ठी तुंगनासा गजपतिगमना दक्षिणावर्तनाभिः
स्निग्धांगी वृत्तवक्त्रा पृथुमृदुजघना सुस्वरा चारुकेशी,
भर्ता तस्याःक्षितीशो भवति च सुभगा पुत्रमाता च नारी।

शब्दार्थ—पुष्ट जंघा, भरे हुए गाल, छोटे और एक सरीखे दांत (जो छोटे बड़े न हों) लाल कोनों वाले और कमल के समान नेत्र, बिंबफल समान ओष्ठ, उन्नत नासिका, गजेन्द्र (हाथी) जैसी चाल, स्निग्ध शरीर, वृत्ताकार मुख, विशाल और कोमल जघन, मधुर स्वर और सुंदर केशवाली कन्या का स्वामी राजा होता है। और वह स्त्री सौभाग्यवती और पुत्रों की माता होती है। इस प्रकार कन्या के लक्षण जानना। अब कुलक्षणों का वर्णन करते हैं:—

शुष्कांगी कूपगण्डा, अविरलदशना श्यामताल्वोष्ठ जिह्वा
पिंगाक्षी वक्रनासा खर पुरुषरवा वामना चाति दीर्घा
श्यामांगी सन्नतभ्रूः कुचयुग विषमा रोमसंघातिकेशी,
सा नारी वर्जनीया धनसुतरहिता षोडषाऽन्नवयाढ्या॥

अर्थ—जिस स्त्रीके अंग शुष्क हों, कूप (कुए) की तरह गहरे गाल, पृथक् २ दांत हो, तालू, ओष्ठ और जिह्वा काली हो, नेत्र पीले हों, नाटी हो या बहुत लंबी हो, शरीर काला हो, भकुटी

बहुत नमी हुई हो, स्तन युगल विषम हो, रोम युक्त जंघा हो, और बहुत केश हों, ऐसी सोलह कुलक्षण वाली स्त्री धन और पुत्र रहित होती है, अतः वह त्याग करने योग्य है।

जो कन्या स्वजन, अच्छे लक्षण, लावण्य, उत्तमकुल और जाति वगैरह से विभूषित हो, रूपवाली, और शरीर के सम्पूर्ण अवयव (अंगोपांग) वाली हो उसके साथ विवाह करना योग्य है।

कन्या ८ (आठ) वर्ष से लेकर ग्यारह साल तक कुमारी कहाती है बाद वह कन्या न्याय पूर्वक विवाह के योग्य होती है। इत्यादि परीक्षा पूर्वक समान आचार और कुल से शोभित वर, कन्या का योग होने पर ही धर्म, शोभा, कीर्ति, इस लोक संबंधी सुखादि की प्राप्ति होती है, जैसा कि—

बसन्तपुर में जित शत्रुनामा एक राजा था। उसी नगर में भली प्रकार से जीवाजीवादि नवतत्व का ज्ञान, और शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्या दृष्टि की प्रशंसा तथा मिथ्या दृष्टि का परिचय करने रूप पांच अतिचार रहित ऐसे सम्यक्त्व रूप भूषण से भूषित हुआ. जिनदत्त नामक एक सेठ रहता था। और वह परम श्रावक था। सेठ के घर एक सुभद्रा नाम करके पुत्री थी। वह रूप लावण्य और सौभाग्य युक्त परम श्राविका थी

उसके साथ विवाह करने की अनेक पुरुषों ने इच्छा की परंतु जिनदत्त श्रावक के सिवाय किसी दूसरे को देने की इच्छा नहीं रखता था। कहा है कि—

विवेकिना धर्मयशोभिवृद्धयै समं कुलाचारमिहावलोक्य।
वराय शुद्धाय सुता प्रदेया नेया तथाऽन्यापि सुखोदयाय॥

अर्थ—विवेकी पुरुषों को धर्म और कीर्ति को फैलाने के लिये इस लोक में समान कुल और आचार को अवलोकन करके पवित्र वरको अपनी पुत्री देनी चाहिये और इसी तरह सुखकी वृद्धि के लिये (पुत्रके लिये) दूसरी कन्या लानी चाहिये।

एक दफा चम्पा नगरी से बौद्ध धर्मी बुद्धदास नामक वणिक् व्यापारके लिये बसन्तपुर में आया, वहां सुभद्राको देख और उसके रूप से मोहित हुआ, कपटवृत्तिसे श्रावक बनकर हमेशा धर्म श्रवण करने लगा; परन्तु तत्वों का ज्ञान होने से वह भाव श्रावक तो हो गया; उसके अध्यवसाय को समझकर **जिनदत्त सेठ** ने अपनी पुत्री उसे देदी, और बड़े भारी उत्सव के साथ विवाह हुआ। कुछ समय व्यतीत होने पर बुद्धदास सुभद्रा को लेकर चम्पा नगरी में आया। वहां भी सुभद्रा जैनधर्म को पालने लगी। सुभद्रा की सासु और ननद बौद्धधर्म के मानने वाली थीं, इसलिये सुभद्रा की हमेशा निन्दा किया करती थीं; इसी वास्ते बुद्धदास ने सुभद्रा को दूसरे मकान में रक्खा। वहां पर साधु–साध्वी को भिक्षार्थ आते हुए देखकर उसकी सासु उस पर द्वेष लाकर यह कहने लगी कि

यह सुभद्रा साधुओं में आसक्त है, परन्तु यह बात बुद्धदास को विश्वासयुक्त नहीं लगी। एक दफा बल, रूप, और गुण युक्त, ऐसा जिनकल्पी साधु आहार के लिये आया। उस वक्त पवन से उड़कर एक तृण साधु की आंख में पड़ गया। वह मुनि अपने शरीर के उपचार में विमुख होने से तृण को आंख से नहीं निकाल सका, परन्तु आहार देते वक्त सुभद्रा ने मुनिका नेत्र नष्ट न होजाय ऐसा विचार कर बड़े चातुर्यके साथ मुनि की आंख से जिह्वा के अग्रभाग से उसे खेंच लिया, दैवयोग उस वक्त सुभद्रा के ललाट का तिलक मुनिके ललाट में प्रतिचिह्नित हो गया परन्तु सुभद्रा के ख्याल में नहीं आया। जब मुनि आहार लेकर निकला तब उसकी सासु वगैरह ने उसके पति को बतलाया कि देख तेरी स्त्री का तिलक साधु के ललाट में प्रतिबिम्बित हुआ है, उसे देखकर बुद्धदास विचार करने लगा कि इस परम-श्राविका की ऐसी विपरीत बात कैसे संभव होसकती है। अथवा विषय बलवान् है, ऐसा विचारकर वह सुभद्रा पर मन्द स्नेह-वाला होगया। सुभद्रा ने इस वृत्तान्त को किसी तरह जान लिया। उस असत्य अपवाद को दूर करने के लिये रात्रि के समय शासन-देवी की सहायता के लिये वह कायोत्सर्ग में खड़ी रही, उसके शील माहात्म्य को जानकर शासनदेवी सुभद्रा के पास आई कहने लगी हेभद्रे! क्या चाहती हो?

इस वचन को सुन सुभद्रा बोली, हे देवी ! मेरे अपवाद को दूर करके शासन की प्रभावना कर। देवी ने जवाब दिया कि मैं प्रातःसमय चम्पा नगरी के दरवाजे बन्द कर दूँगी, नगर-जन जब व्याकुल होंगे तब आकाश में रहकर इस प्रकार बोलूँगी कि जो स्त्री मन वचन और काया से निर्मल शील को धारण करती हो वह छाननी में जल रखकर उस जल से दरवाजे की किवाड़ों को तीन दफा छींटा देवे तो दरवाजे खुल जायँगे। और नगर की जब तमाम स्त्रियों से छाननी में जल न रहे तब उनके समक्ष तैना करके बता देना; जिससे तेरा अपवाद दूर हो जायगा और संसार में कीर्ति फैलेगी; यह कहकर देवी चली गई। बाद में सुभद्रा ने देवी के कथनानुसार नगरी के तीन दरवाजे खोल दिये और चौथा दरवाजा "जो कोई अन्य सती होगी वह खोलेगी" ऐसा कहकर अपने घर पर आगई ऐसा होने से चम्पा नगरी में जिन शासन की बड़ी प्रभावना हुई और सुभद्रा का श्वसुरवर्ग राजा और नगर निवासी लोग प्रतिबोध को प्राप्त हुए।

इसलिये परीक्षा पूर्वक उत्तम कन्या के साथ विवाह करने का प्रयत्न करना चाहिये। परीक्षा पूर्वक विवाह करने से पुरुष को सुजात और अतिजात जैसी सन्ततिरूप फल की प्राप्ति होती है और ऐसी सन्तति होने से गृहस्थ, पिता के ऋण से मुक्त हो

सकता है उसे सब काम में सहायता मिलती है हमेशा मन को विश्रान्ति प्राप्त होती है। सम्पूर्ण आर्थिक व्यापार में वह विश्वास का पात्र होता है, और समय आने पर तमाम घर वगैरह के कामों से उपराम पुण्य कार्य करने की तीव्र इच्छा उसके मन मे होती है और मन में संकल्प किये हुए मनोरथ के पूर्ण होने से महिमा और उन्नति होती है। जैसे उदयन मन्त्रीको वाग्भट्ट और आमदेव वगैरह से इस लोक का सुख प्राप्त हुआ था, वैसे ही अच्छी संतान परलोक में भी शांति का कारण होती है। मधुमती महुवा)के रहने वाले भावड़ सेठ के पुत्र जावड़ सेठ ने कल्याण की वृद्धि की थी इस प्रकार वृद्धि करने से पुत्र का परलोक में भी उदय होता है. एक दफा भावड़ सेठ किसी पर्वके दिन श्री सिद्धाचल तीर्थ पर यात्रा करने को गया, परन्तु वहां पर स्नात्र के योग्य जिन प्रतिमा के न होने से स्नात्र वगैरह धर्म कृत्य न हो सके। सेठ जी की आंखों में से अश्रुकी धारा चल पड़ी। पिता की ऐसी दशा को देखकर जावड़ सेठ ने उसका कारण पूछा, तब भावड़ सेठ ने कहा "हे पुत्र! गिरिराज पर जिन प्रतिमा के न होने से स्नात्र-पूजा न कर सका" यह बात सुनकर जावड़ सेठ ने प्रतिज्ञा की कि मैं इस तीर्थ पर एक जिन-प्रतिमा की स्थापना करूंगा। बाद में जावड़ सेठ ने काश्मीर के नवपुल्ल नगर में जाकर नौ लाख सोना की मोहर से श्रीऋषभदेव, श्रीपुण्डरीक गणधर और चक्रेश्वरी देवी की तीन मूर्तियां लाकर

दशलाख सोना मोहर खरच करके सम्वत् १०८ में शत्रुंजय पर्वत पर उनकी स्थापना की और अपने पिता के मनोरथ को पूर्ण किया।

नीच और कुलांगार रूप सन्तान से इस लोक में दुःख और परलोक में दुर्गति प्राप्त होती है जैसे श्रेणिक राजा को कोणिक से हुई। कहा भी है कि—

श्रियाम्भोधिं विधिं वाचा देव्या व्यालोक्य विश्रुतम्।
दुष्पुत्र दुःखा दर्केन्दू तापमंकं न मुञ्चतः॥

अथवा

कार्मं श्यामवपुस्तथा मलिनयत्यावासवस्त्रादिकम्।
लोके रोदयते भनक्ति जनता गोष्ठीं क्षणेनापियः॥
मार्गेऽप्यंगुलिलग्न एव जनकस्याभ्येति न श्रेयसे।
हा स्वाहा प्रिय ! धूमगजपङ्गु भूत्वा न किं श्रोहितः॥

अर्थ-लक्ष्मी देवी से समुद्र को और सरस्वती से ब्रह्मा को प्रसिद्ध हुए देखकर सूर्य और चंद्र अपने दुष्पुत्रों के दुख से ताप और कलंक को नहीं छोड़ते। अथवा हे अग्नि ! इस धूमरूप पुत्र को जो कि रंग में काला है मकान और वस्त्रादि को मलिन करता है, लोगों को रुदन कराता है, क्षणमात्र में जन-समूह की गोष्ठी नाश कर देता है और मार्ग में भी अंगुली को पकड़े हुए पिता

के साथ जाता हुआ भी किसी के कल्याण आनंद के वास्ते नहीं होता है प्राप्त कर तू लज्जित नहीं होती।

लौकिक शास्त्रों में पुत्र को वृक्ष की उपमा दी है —

सहकारं हि सुजातं कुष्मांडं बीजपुर मति जातम्।
वटतरु फलं कुजातं भवति कुलांगारमिक्षु फलम्॥

अर्थ–सुजात मनोज्ञ पुत्र आम वृक्ष के समान है, अति जात पुत्र कोले या बीजोरे के समान है, कुजात पुत्र वट वृक्ष के फल के समान है और कुलांगार पुत्र गन्ने के समान है। जैनागम में भी कहा है—

अर्थात अति जात (१) समजात (२) नीच (३) कुलांगार (४) ये चार प्रकार के पुत्र हैं।

विवेचन–यहां पर ग्रन्थकार ने चार प्रकार के पुत्रों का ज्ञान कराने के लिये चार ही जाति के वृक्षों के उदाहरण दिये हैं उनमें से प्रथम सुजात (१) मनोज्ञ पुत्र को आम्र वृक्ष की उपमा दी है, जैसे आम की गुठली बोने से जिस जात की वह गुठली होती है उसी जात का "आमफल" भी लगता है। परन्तु अच्छा या बुरा नहीं होता, इसी तरह जो पुत्र पिता का अनुयायी होकर पिता की मर्यादा को उसी भांति रखे, अर्थात

पिता के समान ही ऋद्धि रखे उसे सुजात कहते हैं।

(२) अतिजात-पिता से अधिकता धारण करने वाले पुत्र को कोला या बीजोरा के फल की उपमा दी है जैसे कोले (पेठे की बेल) और बीजोरे का वृक्ष छोटा होता है परन्तु उसका फल बड़ा होता है, ऐसे ही पिता की सामान्य स्थिति होने पर भी जो पुत्र व्यापार आदि में बहुत द्रव्य उपार्जन करे, और अनेक धर्म कार्य या सार्वजनिक कार्य करके और सब कुटुम्ब को सामान्य स्थिति से उच्च स्थिति पर लाकर कीर्ति को प्राप्त करे उसे अतिजात पुत्र कहते हैं।

(३) कुजात-नीच पितासे उतरते पुत्र को बड़ वृक्ष की उपमा दी है, जैसे बड़ वृक्ष प्रमाणों से बहुत बड़ा होता है और छाया युक्त तापादि कष्टको सहन कर थके हुए मुसाफिरों को आनन्द देने वाला होता है परन्तु उसका फल बहुत ही छोटा स्वाद रहित तुच्छ और उपकार रहित होता है वैसे ही जो पुत्र सत्कृत्य और परोपकार आदि करके पिताकी प्राप्त की हुई कीर्ति को कलंकित करे और धनका दुरुपयोग करे सत्कृत्य या परोपकार से विमुख होकर अपने आपको मलिन करे उसे नीच पुत्र कहते हैं।

४ कुलांगार-कुल में अंगार के समान यह नीच से भी अधम है ऐसे पुत्र को सेलड़ी (गन्ने) के फलकी उपमा दी है,

जहां तक गन्ने को फल नहीं आता है वहां तक वह आबाद रहता है और हर काम में आता है मगर जब से फल आता है तो जड़ मूलसे नष्ट होजाता है और किसी भी काम नहीं आता। ऐसे ही निर्मल कुल को कलंकित करने वाले पुत्रके उत्पन्न होते ही तमाम कुल नाश को प्राप्त होजाता है मनुष्य अपने कुल की वृद्धि के लिये पुत्र की इच्छा करता है और उसके लिये अनेक अनेक प्रयत्न करता है, परंतु जब दैवयोग यह चौथी किसम का कुल नाश करने वाला पुत्र उत्पन्न होता है तब अपनी पुत्र प्राप्ति की इच्छा और प्रयत्नादि की निंदा कर अपनी की हुई मूर्खताका पश्चात्ताप करता है और विचारता है कि यदि मैं धर्म-कार्य की शुभ इच्छा करता तो ऐसे अधमाधम पुत्र से मैं ऐसी स्थितिको न पहुंचता। इसलिए पुत्र से ही कल्याण मानना और उसके लिये प्रयत्न करना धर्माभिलाषियों को किसी भी तरह उचित नहीं है।

शास्त्रकार प्रसंगोपात संतति का वर्णन कर स्त्री के प्रस्तुत विषय पर आते हैं।

जिसकी मनोवृत्ति लेशमात्र भी खंडित नहीं हुई ऐसी स्त्री सबमें प्रधान है। वह स्त्री उचित *विनय और विवेक* को आगे रखकर संपूर्ण व्यवहार के करने *कराने और पति के* अनुकूल आचरण करने तथा पति की *आज्ञानुसार सब कार्यों के* अंदर अपनी प्रवृत्ति कराने से श्रेणिक *राजा की चेलणा* और

उदयन राजा की प्रभावती रानी की तरह निरंतर हर्ष और उल्लास के देने वाली होती है। कहा है कि:--

घर की चिन्ता को दूर करने वाली, अच्छी बुद्धि देने-वाली और घर आये हुए अतिथि आदिका सत्कार करने वाली स्त्री कल्पलता के समान गृहस्थ को क्या क्या नहीं देती? अर्थात् सब कुछ देती है।

विवेचन--इस जगत् में प्राणी को अनेक प्रकार की चिन्ता होती है और चिन्ता हमेशा प्राणी को चिता की तरह जलाती रहती है। अनेक प्रकार की चिंता में से गृहस्थ को दो प्रकार की चिन्ता होती है, एक घर संबंधी और दूसरी व्यापार संबंधी। अपने देश में पुरुषों का काम व्यवसाय वा नौकरी आदि से द्रव्योपार्जन कर अपने कुटुम्ब और शरीर का पोषण करने का होता है। और स्त्रियों को गृह-कार्य वगैरह की चिंता होती है। परंतु जिस मनुष्य के घर में स्त्री नहीं होती अथवा विवेक-शून्य स्त्री हो तो उसे दोनों कार्य स्वयं करने पड़ते हैं इसीलिये उस मनुष्य को द्रव्यो-पार्जन के उपरांत दोनों प्रकार की चिंता के कारण सुख की प्राप्ति नहीं होती और चिंताग्रस्त होने से नवीन शोध, अपूर्व शास्त्राभ्यास और अपूर्व कला कौशल्य वगैरह से अपने आपको जैसा चाहिये वैसा ऊंचे दर्जे का बना नहीं सकता है। मगर यदि घर में ज्ञान वाली

और अनुभव वाली हों तो वह स्त्री घर का तमाम काम अपने मस्तक पर उठाकर अपने प्राणप्रिय पति को गृह सम्बन्धी चिन्ता से मुक्त कर देती है जैसा कि पाश्चात्य (विलायत) प्रजा में स्त्रियें विवेक शील और ज्ञानवान् होने से उनके पति गृह संबंधी चिन्ता से मुक्त रहते हैं इसीलिये उन लोगों ने नवीन २ शोध–खोज, शास्त्राभ्यास, और कला–कौशल में आगे बढ़कर अपने आपको और अपने देश को कैसे उच्च शिखर पर पहुँचाया है और तमाम दुनियाँ को जागृत कर दिया है।

"गृह चिन्ता भर हरणं" इस वाक्यके अनुसार प्रथम भारत में भी स्त्रियों को प्रत्येक प्रकार का शिक्षण दिया जाता था ऐसा सिद्ध होता है। गृहस्थों का उत्कर्ष सुशिक्षित स्त्रियों पर ही निर्भर है, इसलिये प्रयत्न पूर्वक स्त्रियों को धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षा तो अवश्य देनी चाहिये, तब ही वह यथोचित सांसारिक और धार्मिक कार्यों में प्रवृत्ति कर अपने और पति के संसार को सुखमय बनाकर 'गृहिणी' यह नाम सार्थक कर सकेंगी। स्त्री, पति को उत्तम मति देने वाली होनी चाहिये अर्थात् अपने स्वामी को व्यापार और राज्य कार्यमें ऐसा कोई काम आ पड़े तो उस वक्त सुशीला, शीलवती और अनुपमा देवी की तरह अच्छी मति देकर मदद करनी चाहिये। कदाचित् अपना स्वामी कुल मर्यादा का उल्लङ्घन कर खोटे रास्ते पर चला हो तो भी उसको विनयादिक

उल्लंघन न कर के बड़े मधुर स्वर से अच्छी सलाह देकर और इस लोक वा परलोक के प्रति तीव्र दुःख विपाकों को सुनाकर मदन रेखा और लीलावती की तरह हर एक प्रकार से ऐहिक पारलौकिक सुखों का भागी बनाने में प्रयत्न शील होना चाहिये। गृहस्थों के घरों में ऐसी स्त्रियों का होना आवश्यक है।

पुरुष हमेशा व्यापार आदि कार्य में व्यग्र होने से घर में आये हुए अपने जाति-बन्धु, धर्म-बन्धु अथवा मुनि महात्मा का आतिथ्य यथोचित नहीं कर सकता। परन्तु यदि स्त्री द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानती हो तो अपने घरके चौक में कल्पवृक्ष के समान सत्पात्र के आते ही योग्य सत्कार करके इस लोक में अपने पति के कुल में कीर्त्ति की वृद्धि कर सकती है। और परलोक में अपने अखण्डित पुण्य का भागी होकर अपने पति को भी पुण्य का भागी बना देती है। पूर्वोक्त कर्तव्य खास स्त्री के करने योग्य है और स्त्री यदि ज्ञान वाली हो तो घर में सम्मान को प्राप्त कर पति की सब चिन्ता को दूर करने वाली होती है ऐसी कल्पलता के समान स्त्री गृहस्थ के लिये क्या क्या संपादन नहीं करती? अर्थात् जैसे कल्पलता मनो-वाञ्छित वस्तु देकर सुखी करती है वैसे ही गुणवती स्त्री भी अपने स्वामी के अनुकूल वर्तन कर इस लोक और परलोक के सुख को देनेवाली होती है। कहा भी है:--

दक्षातुष्टा प्रियालापा पतिचित्तानुवर्त्तिनी ।
कुलौचित्याद् व्ययकारी सालक्ष्मी रिव चापरा ॥

अर्थात्-चतुर हो, सन्तोषवाली हो, मीठा बोलने वाली हो, पति के चित्तके अनुकूल चलने वाली हो, कुलकी हैसीयत के अनुसार व्यय करने वाली हो, वह स्त्री मानो दूसरी लक्ष्मी देवी ही है ।

विवेचन--स्त्री ज्ञानवती होनी चाहिये । अगर ऐसी हो तो हर एक काम में विवेक पूर्वक चलने वाली नारी पति के वैभव से सन्तोषवाली हो सकती है चाहे कितना ही ऐश्वर्य दिव्य संपत्ति और मान-प्रतिष्ठा हो मगर जहां तक संतोष प्राप्त नहीं हुआ वहां तक ऐश्वर्यादि पूर्व पुण्य के योग में रहे हुए हैं । इसलिए पुण्यानुसार प्राप्त हुए ऐश्वार्यादि में असन्तोष मानकर उसे और अधिक करने की इच्छा करनी युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा करने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता । अपितु ऐसी इच्छा करने वाला दुःखी होता है । कितनी एक स्त्रियें को अपने पति की तरफ से प्राप्त किये हुए वस्त्र और आभूषणों से संतोष नहीं होता । धनवान की स्त्रियों के आभूषणों को देखकर और वैसे ही प्राप्त करने के लिए अपने प्राणपति को हैरान परेशान करती है । इससे ऐसी स्त्रियों के साथ गृह संसार सुखमय नहीं होता परन्तु जिसकी स्त्री संतोषवाली है उसीको दुनियां स्वर्ग के तुल्य है । जो स्त्री बुद्धिमती,

विचारवती पढ़ी-लिखी होती है वह चाहे कैसा ही प्रसंग हो तो भी कठोर (मर्म भेदक) और गाली गलोच (बुरे शब्द) मुख से नहीं निकालती और समय आने पर मदन सुन्दरी की तरह मधुर, परिमाण युक्त और समयोचित बोलने वाली होती है। मधुर आलाप भी एक वशीकरण है और वह जिसके पास हो वह सारे जगत को एक लीला मात्र से वश कर लेती है। प्रिय बोलने से इस लोक में आदर, यशोवाद, धर्म, योग्यता, और परलोक में सुख संपति की प्राप्ति होती है। इसलिये महान् पुण्योदय से प्राप्त हुए मनुष्य भवको सार्थक करने के लिये हर एक स्त्री को मीठे शब्दों में बोलने के लिये हमेशा उद्यम और अभ्यास रखना चाहिये।

पति के चित्तानुकूल चलनेवाली स्त्री मणि, मंत्र, औषधि, और कामण टुमण के बिना ही अपने पति को वश में कर लेती है। इस वास्ते जिस स्त्री को अपने पतिको वश करनेकी इच्छा हो उसे रुक्मिणी और द्रौपदी की तरह पति चित्तानुवर्तिनी होना चाहिये। इससे पति सहज में ही वश में हो जायगा। यह गुण हर एक स्त्री को ग्रहण करना चाहिये और जिस स्त्री में यह गुण होगा उसे पति की तरफ से हमेशा ही सुखकी प्राप्ति रहेगी। अपने कुल के उचित ही व्यय करने वाली स्त्री कुटुम्ब में सब को प्रिय लगती है और विश्वास वाली होती है। पति के पास जितना चाहिये उतना पैसा नहीं और स्त्री अधिक व्यय करने वाली हो तो वह

थाःर्गिं सुन्दरी ? सुन्दरं न कुरुषे किं नो करोषि स्वयं ।
धिग्त्वां क्रोधमुखी मलीक मुखरस्त्वत्तोऽधिकःकोपनः ॥
आः पापे मति जल्पसि मतिपदं पाप स्त्वदीयः पिता ।
दम्पत्योरिति नित्यदन्तकलह क्लेशात्तयोःकिंसुखम् ॥

अर्थ-शिव—अरि सुन्दरि ? तू अमुक काम ठीक नहीं करती ?

सावित्री-तू स्वयं ही क्यों नहीं कर लेता।

शिव-क्रोधमुखी तुझ को धिक्कार है !

सावित्री-असत्य बोलने में वाचाल तुझ से अधिक कौन क्रोधी है।

शिव-और पापे ? हर एक बात में तू सम्मुख बोलती है।

सावित्री-पापी तेरा बाप। इस प्रकार जहां नित्य कलह और क्लेश हो वहां दम्पती को सुख कहां, उस लड़ाकी स्त्री से डरकर शिव ब्राह्मण भी उस उपवन में जहां वह व्यन्तर रहता था, गया। व्यन्तर ने उसे पहिचान कर कहा है-शिव ! तू मुझको पहिचानता है। शिव ने कहा नहीं, देवता ने कहा मैं तेरी भार्या के भय से इस उपवन में हूं। तेरा गुजारा यहां पर नहीं [illegible]। शिव ने कहा

से मेरा निर्वाह हो जायगा, व्यन्तर देव शिव के साथ संकेत करके किसी सेठ के पुत्र को चिपटा। सेठजी ने मंत्रवादिओंको बुलाया परन्तु उनसे कुछ फायदा न हुआ। शिव भूत को निकालता है, ऐसा सुन कर सेठजी ने उसे बुलाया। शिव ने जब मंत्रपूर्वक जल फेंका तब भूत निकल गया, सेठ ने खुश होकर उसे पाँच सौ सोना मुहरें दीं, लोगों में शिव की प्रसिद्धि हुई। जहां जहां व्यन्तर चिपटता है वहां जाकर शिव उसे निकालता है। एक दफा देवता ने शिव से कहा, बस अब तुम मेरे निकालनेका उद्योग न करना, अगर तू करेगा तो भी मैं वहांसे नहीं निकलूँगा और तेरा इससे अपयश होगा, परंतु धनमें लुब्ध हुए ब्राह्मणने उपचार करना न छोड़ा। एक दफा व्यन्तरने किसी धनवान्के पुत्रको पकड़ा। शिव वहां जाकर मन्त्रजाप करने लगा देवता ने मुष्टि उठाकर कहा कि अरे मैं तुझे मार डालूंगा, तब भयभीत होकर वह ब्राह्मण बोला कि हे व्यन्तर! मैं तुझे कुछ कहने को आया हूं। व्यन्तर ने कहा. क्या कहना है। शिव ने कहा कि मेरी स्त्री सावित्री यहां आई हुई है यह सुनते ही व्यन्तर भाग गया, और ब्राह्मण को द्रव्य तथा यश की प्राप्ति हुई। कहा भी है:—

कलहिन्या गेहिन्याऽत्र केकेनोद्वेजिताजनाः ।
सात्रागतेति श्रुत्वैव त्यक्त्वा पात्रं गतोऽमरः ॥

अर्थ—कलहिणी स्त्री से इस लोक मे कौन २ पुरुष उस को प्राप्त नही हुआ वह यहां आई है. इतना सुनते ही [illegible] पात्र को छोड़कर चला गया। इति.

कुलीनता, आचार शुद्धि उत्तम कुलाचार, देव, अतिथि और वान्धवादि का सत्कार करने मे निपुणता आदि का होना कुलवन्धुओं का गुण है इसलिये पुरुष को ऐसी भार्या प्राप्त करने में प्रयत्न शील बनना चाहिये।

कुल वन्धुओं के करने योग्य गृहकार्य

विस्तर उठाकर घर में से कचरा (कूड़ा) निकालकर घर को साफ करना, पानी पुनकर स्वच्छ करना, रसोई का काम करना, वर्तन धोकर साफ करने, धान बदलना, गाय भैसों का दूध निकालना, दही मथन करना, रसोई बनाना, अच्छी तरह रसोई परोसना, सासु स्वसुर, स्वामी ननद तथा देवर वगैरह की विनय करना, इस तरह स्त्रियों को घर के कार्य में लगाकर उसे परिमित द्रव्य देना, स्वतन्त्र नहीं होने देना, श्रेष्टाचार की तरह स्त्री को रोकना, अर्थात् जैसे अच्छे आचार को अपने पास से सत्पुरुष इधर उधर जाने नही देते वैसेही स्त्री को भी नही जाने देना। उत्तम कुलकी स्त्रियों को निरन्तर घर के दरवाजे पर बैठना नाटकादिका देखना, और झरोखे

है। शरीर के अवयव को प्रकट करना, क्रीड़ा करनी, कुतूहल करना, पुरुष के साथ बोलना, दामाद (जमाई) के साथ हास्य (ठट्ठा मस्करी) करना, विवाद में मिठाइयें गानी, गाली गाना, कामण करना और उन्हें चखना ये उपरोक्त कार्य कुलवती स्त्रियों के करने योग्य नहीं हैं।

वेश्या, दासी, व्यभिचारिणी, और कारीगरनी के साथ कुलवती स्त्रियों को संसर्ग न करना चाहिये अकेली जाना, रात्रि जागरण, दूर से पानी लाना, माता के घर में अधिक रहना, कपड़ों के लिये धोबी के पास जाना, दूतनी के साथ मिलाप रखना, अपने स्थान से भ्रष्ट होना, और पति के देशांतर जाने पर सखी के विवाह वगैरह में जाना, यह काम करने से सतियों के भी शीलरूप जीवन का नाश होने का भय है। ताम्बूल (पान) शृंगार, मर्म भेदी वचन, खेल, सुगन्धि की इच्छा, उद्वर्तन, हास्य, गीत, कौतुक, काम-क्रीड़ा, शय्या, कुसुंबीवस्त्र, रस सहित अन्न फल फूल, और केशर तथा रातको बाहिर जाना ये सब कुलीन और सुशील विधवा औरतों के त्याज्य हैं। हे सुन्दर भ्रकुटी वाली स्त्री! तू अपने पतिकी तरफ निष्कपट, ननद के साथ नम्रता वाली, सासु की भक्ति वाली, स्वजनों की तरफ स्नेहवाली, परिवार के हितवाली, हंसमुखी, पति के मित्रों के साथ निर्दोष हास्य वचन बोलने वाली और उसके दुश्मनों

भेद करने वाली हो यह सब स्त्रियों के लिये पति को वश करने का महामंत्र है।

अब ग्रंथकार प्रस्तुत गुण का उपसंहार करते हुए उपदेश द्वारा फल बताते हैं.

एवं गृहस्थः सुकलत्रयोगाज्जनेषु शोभांलभते सुखीच।
देवातिथि मीन पुण्यकर्माजनैः परत्रापि गतिं विशुद्धाम्॥

अर्थ—इसी तरह गृहस्थ लायक स्त्री के योग से लोक में शोभा को प्राप्त होता है और सुखी होता है वैसे ही देव तथा अतिथि को तृप्त कर पुण्य कर्म का उपार्जन करता हुआ परलोक में भी सुगति का भाजन होता है।

* तीसरा गुण समाप्त *

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर

की

नियमावलि।

इसका मेम्बर हर एक हो सकता है।

...ीस मेम्बरी कम से कम २) वार्षिक है, अधिक देने का ...ा अधिकार है। फीस अगाऊ ली जाती है। जो महाशय ...ा सोसायटी को ५०) देंगे, वह इसके लाईफ मेम्बर ...ोंगे। वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया जावेगा।

...इस सोसायटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होगा ... महाशय मेम्बर होंगे वे चाहे किसी महीने में मेम्बर ...हों उनसे ता० १ जनवरी से ३१ दिसम्बर ... लिया जावेगा।

...ो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी ...प्रकाशित कराकर विना मूल्य वितर्ण कराना चाहें, ...नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जायगा।

जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हर एक ...के पास विना मूल्य भेजे जाया करेंगे।

सेक्रेटरी

श्राद्ध गुण विवरण

चौथा भाग।

पन्यास सोहन

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

परमर्षि श्री जिन मण्डन गणि विरचित

श्राद्ध गुण विवरण

चौथा भाग

ट्रैक्ट नं० ७२

अनुवादक—

पन्यास श्री सोहनविजयजी महाराज

प्रकाशक—

मंत्री—श्री आत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर।

वीर संवत् २४५१ | प्रति १००० | विक्रम संवत् १९८१
आत्म संवत् २९ | मूल्य -)॥ | ईस्वी सन् १९२५

॥ श्री वीतरागायनमः ॥

श्राद्ध गुण विवरण

चौथा भाग।

चौथा गुण

पाप भीरुता।

पाप भीरु-देखा हुआ और न देखा हुआ अनर्थ का कारण भूत जो कर्म वह पाप और उससे डरने वाला जो हो उसे पापभीरु कहते हैं।

चोरी, परस्त्री गमन, जुआ खेलना आदि देखा हुआ अनर्थ का कारण है और यह इस जगत् में भी तमाम मनुष्यों में विडंबना का स्थान प्रसिद्ध है। कहा है कि—

द्यूताद्राज्य विनाशनं नलनृपः प्राप्तोऽथवा पाण्डवा,
मद्यात्कृष्ण नृपश्च राघवपिता पापर्द्धितो दूषितः ॥
मांसाच्छ्रेणिक भूपतिश्चनरके चौर्याद्विनष्टा न के ।
वेश्यातः कृत पुण्यको गतधनोऽन्यस्त्रीमृतो रावणः ॥

अर्थ—नल राजा और पाण्डवों ने जुए के व्यसन से अपने राज्य का विनाश किया, कृष्णादि का मदिरा से विनाश हुआ, रामचन्द्रजी का पिता दशरथ शिकार करने से दूषित हुआ, श्रेणिक राजा मांस के खाने से नरक में गया, चोरी के व्यसन से तो कौन २ नाश को प्राप्त नहीं हुआ, कृतपुण्य सेठ वेश्या के संग से निर्धन होगया और रावण परस्त्री के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ। यह देखा हुआ अनर्थ का कारण है।

शास्त्रों में कहा हुआ, नरकादिक दुःख का फल देने वाला, शराब और मांस का सेवन आदि जो कार्य हैं वे परोक्ष (नजर में न आने वाले) अनर्थ के कारण हैं। कहा है "बहुत आरम्भ करने से, बहुत परिग्रह के धारण करने से, पंचेन्द्रिय के घात करने से और मांसके खानेसे जीव नरक का बन्धन करता है इसलिये उपर्युक्त वस्तुओंका अवश्य त्याग करना उचित है। ऐसे पापभीरु गृहस्थों को विमल सेठ की तरह सिद्धियें प्राप्त होती हैं।

विमल सेठका उदाहरण

कुशस्थल नगर में किसी एक सेठ के विमल और सहदेव नाम के दो पुत्र थे; उनमें से विमल पाप-भीरु था और सहदेव उससे विपरीत स्वभाव वाला था। उन दोनों भाइयों ने गुरु महाराज के पास से सम्यक्त्व मूल बारह व्रत ग्रहण किये थे। एक समय दोनों भाई व्यापार के लिए देशान्तर को चले। मार्ग में पथिकों ने मार्ग पूछा। विमलने कहा "मैं नहीं जानता"। तब दूसरे व्यापारियों ने श्रावस्ती नगरी में बहुत सा लाभ सुन कर उस तरफ प्रयाण किया, परन्तु विमल सेठ रास्ते में बहुत सूक्ष्म मैंडक देख कर श्रावस्ती को छोड़ कनकपुर की तरफ़ चल पड़ा। रास्ते में एक ग्राममें नील, मोम, मधु, नमक, और पुराने तिल वगैरह चीजें सस्ती मिलती थीं। मगर पाप-भीरु विमलने उन्हें नहीं खरीदा। किसान लोग मक्खन को तपा कर घी देते थे परंतु विमल ने नहीं लिया और सहदेव उन तमाम वस्तुओं को लेने की इच्छा से उन्हें साई देता था, मगर विमलने ऐसा नहीं करने दिया। फिर आगे चलते हुए एक गाम में मच्छीमार लोगों ने जाल के लिये सूत मांगा। सहदेव देने के लिये तत्पर हुआ, पर विमल ने नहीं देने दिया। अन्त में दोनों भाई कनकपुर पहुंचे। वहां पर रसोई के वक्त किसी व्यापारी ने अग्नि मांगी, विमल ने नहीं दी। यह देखकर किसी देव ने परीक्षार्थ

व्यापारी का रूप धर अग्नि मांगी, परंतु विमल ने उसे भी न दी। तब देव राक्षस रूप धारण कर उसे डराने लगा मगर विमल डरा नहीं। राक्षस ने कहा कि अगर तू मुझको अग्नि दे तो तुझे छोड़े देता हूं। विमल ने कहा कि हे राक्षस! अग्नि चार मुख वाला शस्त्र है इसलिए देनी योग्य नहीं, पाप से डरने वाले श्रावकों को मधु, मदिरा, मांस, शस्त्र, अग्नि, मन्त्र और मन्त्रादि नाही स्वयं देने चाहियें और नाही दिलाने चाहियें।

न ग्राह्याणि न देयानि पञ्च वस्तूनि पण्डितैः।
अग्निर्विषं तथा शस्त्रं मद्यं मांसं च पंचमम्॥

अर्थ—अग्नि, विष, शस्त्र, मदिरा और मांस ये पांच वस्तु ए पण्डित पुरुष किसी को न दें और न लें।

इसलिये प्राणों के अन्त समय तक भी मैं अग्नि न दूंगा। विमल के ऐसे वचनों को सुनकर राक्षस-रूप देवता विमल के पराक्रम और दृढ़ निश्चय से संतुष्ट होकर अपने स्वाभाविक रूपको प्रकट कर कहने लगा—हे विमल! स्वर्ग में इन्द्र महाराज ने तुम्हारी प्रशंसा की थी, कि विमल समान पाप-भीरु अन्य कोई नहीं है। इसलिये तुझे विचलित करने के लिए मैंने मेंडक आदि की उत्पत्ति का जाल रचा; किन्तु तुम

विचलित न हुए इस वास्ते वर मांगो। विमल ने वर नहीं मांगा तो भी देवता उसे विषहरमणि देकर स्वर्ग में चला गया। विमल और सहदेव नगर में गये। उस समय नगर में पटह बज रहा था कि सर्पके डंक से मरे हुए राजपुत्र को जो कोई जीवित कर देगा उसे राजा आधा राज देगा। यह सुनकर विमल के निषेध करने पर भी सहदेव ने पटह को स्पर्श कर मणिके प्रभाव से राजकुमार का विष उतार दिया। जब राजा उसे आधा राज्य देने लगा तब उस ने कहा कि मेरे बड़े भाई को दीजिये। राजाने उसी प्रकार करना चाहा, किन्तु विमल ने अधिकरण के भय से ग्रहण नहीं किया। तब राजा ने सहदेव को आधा राज्य और विमल को नगर सेठ का पद दिया। अधिकार पदको पाकर सर्वत्र न्याय की प्रवृत्ति करता हुआ और परोपकार में तत्पर रहकर विमल धर्म कृत्य करने लगा। कहा भी है—

आज्ञा कीर्त्तिः पालनं धार्मिकाणां दानं भोगो मित्रसंरक्षणञ्च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण।

अर्थ—आज्ञा, कीर्ति, धार्मिक पुरुषों का पालन, दान भोग और मित्र रक्षण यह छः गुण जिसमें प्रविष्ट नहीं हुए उसे राजा के आश्रित होने की क्या जरूरत है अर्थात् जो राजा के आश्रित हो उसे उपरोक्त छः काम अवश्यमेव करने चाहियें।

सहदेव राज्य को प्राप्त कर प्रजावर्ग को दुःख देता हुआ अनेक पापों को निरशंकता से करने लगा। विमल उसे ऐसा करने से रोकता था, परन्तु वह न रुका। क्योंकि पुरुष के स्वभाव को उपदेश से कोई नहीं रोक सकता। छः मास तक कुत्ते की पूंछ नाली में रखी हुई भी बाहिर निकालने से टेढ़ी की टेढ़ी ही रहती है। सहदेव को किसी शत्रु ने उसे मार डाला और कालवश वह नरक में उत्पन्न हुआ। विमल धर्मकृत्य के प्रभाव से स्वर्ग में गया, वहां से कालकर मनुष्यभव धारण कर और दीक्षा लेकर मोक्ष को जावेगा।

अब ग्रन्थकार चतुर्थ गुण का उपसंहार करते हुए उपदेश द्वारा उसका फल दिखलाते हैं:—

विमलवदिति यः स्यात् पापभीरु प्रवृत्तिः
सतत सदयचित्तो धर्मकर्मैकचित्तः।
स सुरनरसुखानि प्राप्य जाग्रद्विवेकः।
कलयति शिवलक्ष्मीनायकत्वं सुखेन॥

उपरि कथनानुकूल विमल के समान जो पुरुष पाप रहित प्रवृत्ति करने वाला, निरन्तर दयालु हृदय वाला, धर्म रूप कार्य में एक चित्त वाला और स्फुरायमान विवेक वाला होता है, वह

मनुष्य, देव और मनुष्य संबन्धी सुखों को प्राप्त करके मोक्ष रूप लक्ष्मी के नायकत्व को बिना ही श्रम के प्राप्त कर लेता है।

॥ इति चतुर्थ गुण ॥

पंचम गुण

अब क्रम से प्रसिद्ध देशाचार नाम के पंचम गुणका वर्णन करते हैं:—

"प्रसिद्धञ्च देशाचारं समाचरन्"—उसी प्रकार के अन्य शिष्ट पुरुषों को वह आचार मान्य होने से लौकिक रीति में आए हुए आचार को प्रसिद्ध कहते हैं और महान् पुरुषों के योग्य भोजन, वस्त्र, और गृहकार्य आदि नाना प्रकार की क्रिया रूप जो देश का व्यवहार है उसे देशाचार कहते हैं। तथाविधि प्रसिद्ध देशाचार के आचरण करने से गृहस्थ धर्म के योग्य होता है। देश के उपलक्षण से कुलाचार, प्रसिद्ध लोकाचार और धर्माचार को भी अच्छी तरहसे आचरण करने वाला होना चाहिए।

उपरोक्त आचार विरुद्ध आचार के त्याग करने से ही प्राप्त होता है।

कहा है कि—

लोकः खल्वाधारः सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात् ।
तस्माल्लोकविरुद्धं धर्म विरुद्धञ्च संत्याज्यम् ॥

अर्थ—जिस कारण से सम्पूर्ण धार्मिक जनों का आधार लोक है इसलिए लोक विरुद्ध और धर्म विरुद्ध का त्याग करना चाहिये।

देश और लोक आदि के विरुद्ध यह है कि—

अपनी स्थिति से बढ़कर वेष धारण करने, और अधिक द्रव्य होते हुए मैला कुचैला वेष रखने, स्वयं शक्ति हीन होने से शक्ति वाले के साथ वैर करने वाले पुरुष का लोक उपहास करते हैं।

चोरी आदि से धनकी आशा रखने वाले, श्रेष्ठ उपायों में संशय करने वाले, और शक्ति के होने पर भी उद्योग रहित पुरुष को द्रव्य प्राप्ति नहीं होती है। रोगी होने से अपथ्य का सेवन करने वाला, हितशिक्षा देनेवाले पर द्वेष रखने वाला, और निरोगी होने पर दवाई को सेवन करने वाला पुरुष मरने की इच्छा करता है, महसूल चुका कर उलटे रस्ते चलने वाला, भोजन के समय क्रोध करने वाला, और अपने कुल के अहंकार

से साधु सन्त की सेवा करने वाला, ये तीनों मन्द बुद्धि वाले ही समझने चाहियें। बुद्धिहीन होने से कार्यसिद्धकी इच्छा करनी, दुःखी होने पर सुखके मनोरथ करने और कर्ज उठा कर मिलकीयत को खरीदने या बनाने वाला ये तीनों मूर्ख पुरुषों के सरदार जानने चाहिये। मनोहर स्त्री के होते हुए भी पर स्त्री की इच्छा वाला, भोजन तैय्यार हुए को छोड़ जाने वाला. और निर्धन होने पर बातों में अत्यन्त आसक्त रहने वाला ये तीन मूर्खों के शिरोमणि गिने जाते हैं। कीमिया में द्रव्य देखने वाला, रसायन में रसिक होने वाला और परीक्षा करने के लिये विष खाने वाला, ये तीनों अनर्थ को प्राप्त होते हैं। किसी के दोष जानने पर भी उसकी श्लाघा करने वाला, गुणी के गुण की निन्दा करने वाला, और राजादिक के अवर्णवाद बोलने वाला ये तत्काल ही अनर्थ के भाजन होते हैं। थक जाने पर भी सज्जन पुरुष को भैंस, गधे और गायकी सवारी नहीं करनी चाहिये। जेलखाने में, वध स्थान में, जुआ खेलने के स्थान में, पराभवके स्थानमें, भाण्डागारमें और नगरके अन्तउरोंमें नहीं जाना चाहिये, जिसने ऐसे उत्तम लोकाचारका सेवन किया हो तो प्रायः करके इस लोक में उसके यश और शोभा की वृद्धि होती है और लोकों में मान्य होने से धारे हुए धर्म कार्य की सिद्धि सुख पूर्वक होती है और अगर लोकाचार का उल्लंघन किया जावे तो अपने देशवासियों

से विरोध की संभावना होने से धर्म कार्य में विघ्न आ पड़ता है कहा है कि—

व्यलीकमस्तु मा वास्तु लोकोक्तिस्तु सुदुस्सहा।
भग्नतां भाजनं मा वा टणत्कारस्तुमारयेत्॥

अर्थ—झूठ हो या सत्य परन्तु लोकोक्ति तो अति दुस्सह होती है। बर्तन टूटा हुआ हो या न हो मगर लोग तो टकोरा मारते ही हैं।

लोकाचार से विरुद्ध कार्य करने वाला मनुष्य एक दम लघुता को प्राप्त होकर घासके समान निकम्मा होजाता है। अपने स्थान में सन्तुष्ट रहे हुए तीन सौ त्रेसठ मत वाले भी हमेशा जिस लोकाचार का पालन करते हैं वह लोकाचार लघु कैसे हो सकता है। जब कि सब प्रकार के संग का त्याग करने वाले मुनि भी शरीर और संयम की रक्षा के लिये लोकाचार का आचरण करते हैं तो फिर अन्य का कहना ही क्या? बहुत लोगों के साथ विरोध रखने वाले की संगति करनी, देशाचार उल्लंघन करना, दानादिक का निषेध करना, सन्त पुरुषों को कष्ट आने से खुशी होना और शक्ति के होते हुए भी उन्हें कष्ट से मुक्त करने का उपाय न करना इत्यादि और भी अनेक प्रकार के लोक विरुद्ध कार्य जान लेने चाहियें।

अब ग्रन्थकार पञ्चम गुण को समाप्त करते हुए उपदेश द्वारा उसका फल बताते हैं:—

समाचरन् शिष्टमतस्व देशाचारं यथौचित्य वशेन लोके।
सर्वाभिगम्यो लभते यशांसि स्वकार्य सिद्धिश्च गृहाश्रमस्थः॥

अर्थ—गृहस्थाश्रम में रहा हुआ पुरुष शिष्ट पुरुषों का सन्मान एवं अपने देशाचार का योग्य रीति से आचरण करता हुआ लोकों में माननीय होता है और यश तथा अपने कार्य की सिद्धि को भी प्राप्त करता है।

इति पांचवां गुण समाप्त

छठा गुण

किसी को अवर्णवाद नहीं बोलना चाहिये।

"अवर्णवादी न क्वाऽपि" अवर्णवाद या निन्दा करने वाले पुरुष को अवर्णवादी कहते हैं। गृहस्थ को अवर्णवादी नहीं होना चाहिये। जघन्य, मध्यम, और उत्तम किसी प्राणी,

का भी अपवाद न करना चाहिये क्योंकि यह बड़ा दोष है। कहा है कि–

परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटि दुर्मोचम्॥ १॥

अर्थ—दूसरों का पराभव, तथा अपवाद और अपना उत्कर्ष करने से प्रत्येक भव में अनेक भव कोटि से भी नहीं छूट सके ऐसा नीच गोत्र बँध जाता है।

अपनी प्रशंसा, दूसरों की निन्दा, महान् पुरुषों के गुणों से मत्सरता और सम्बन्ध बिना बोलना ये तमाम बातें आत्मा को अधोगतिमें ले जाने वाली हैं। मनुष्य दूसरेको अवर्णवाद बोलनेसे गधा, निन्दा करनेसे कुत्ता, दूसरे की वस्तु खाने वाला कृमि, और द्वेष रखने वाला कीड़ी रूप में उत्पन्न होता है। असत्य हो या सत्य दोष के कहने और सुनने से कुछ भी लाभ नहीं होता है परन्तु कहने वाले पर वैर की वृद्धि तो जरूर होती है और सुनने वाले की बुद्धि अत्यन्त मलीन होती है। उत्तम पुरुषों की बुद्धि दूषण वाली नहीं होती है अर्थात् वह दूषण की तर्फ लक्ष नहीं देती। मध्यम पुरुषों की मति दूषण का स्पर्श करती है परन्तु दोष प्रकट नहीं करती। अधम पुरुष दूषण देखकर अन्य के पास प्रकट करता है। और अधमाधम तो दूषण देखकर फौरन गुल मचाने

लगता है। अपना गुण और अन्य का अवगुण कहने के लिये, दूसरे से याचना करने के वास्ते और याचक को निराश करने के लिये सत्पुरुषों की जिह्वा जड़ हो जाती है। दूसरे की निन्दा करनी यह एक महा पाप है। इससे बढ़ कर आश्चर्य तो इस बात का है कि जिस पाप को हमने स्वयं कभी न किया हो, उसी के लिए दूसरे की निंदा करने से हमें भी उस वृद्ध ब्राह्मणी की तरह उस पाप का भागी बनना पड़ता है।

बुढ़िया ब्राह्मणी का उदाहरण

किसी एक ग्राम में **दानेश्वरी** और लोकप्रिय **सुन्दर** नामक एक सेठ रहता था। कहा है कि— प्रजा को दाता ही प्रिय है मगर धनवान् नहीं दुनियां मेघ के पानी की इच्छा करती है किन्तु समुद्र के पानी की नहीं। क्योंकि जैसे मेघ पानी देकर प्राणियों के प्राणों की रक्षा करता है वैसे ही दाता भी। इसीलिये इन दोनों की लोग इच्छा करते हैं। समुद्र में बहुत पानी होने पर भी और धनवान् के पास बहुत धन होने पर भी वह किसी के उपयोग में नहीं आता; इसी कारण से उन दोनों की कोई इच्छा नहीं करता। सुन्दर सेठ की एक पड़ौसन ब्राह्मणी सेठ की निन्दा करने लगी, कि सेठ के घर परदेशी लोग आते हैं और वे इसे धर्मात्मा समझ कर अपना द्रव्य इसके पास अमानत रख जाते हैं; और कितनेक ब्याज पर दे जाते हैं; और जब वे परदेशमें

मर जाते हैं तब इस सेठ के घर उत्सव होता है । देखो महन्त कैसा धर्मात्मा है ? एक दफा रात्रि के समय, क्षुधा पीड़ित यात्री सुन्दर सेठ के घर आया, मगर उस वक्त सेठजी के घर खाने पीने की कुछ भी वस्तु तैय्यार नहीं थी इसलिये दानप्रिय सेठ ने गुज्जर के घर से छाछ लाकर उसे पिलाई। दैवयोग से वह अचानक मृत्यु को प्राप्त होगया; क्योंकि गुजरी जब दिन के वक्त छाछ बेच रही थी उस वक्त उसके मस्तक पर रहे हुए छाछ के बर्तन में सर्प के मुख का विष पड़ गया था, जिसे कि चील ने पकड़ा हुआ था इससे छाछ विषमिश्रित होगई थी। प्रातःकाल उस यात्री को मरा हुआ सुन कर वह ब्राह्मणी कहने लगी कि द्रव्य के लोभ से विष देने वाले इस दाता का चरित्र देखो ! उस समय उस यात्री की हत्या भी फिरती हुई विचार करती है कि मैं किसको लगूं, दाता की आत्मा निर्मल है सर्प अज्ञ है, और परवश है, चील का सर्प भक्ष्य है गुजरी अजान है; सो मुझे किसको लगना चाहिये ऐसा विचार करती हुई यह हत्या उस निन्दा करने वाली ब्राह्मणी को लगगई, कि जिससे वह तत्काल ही श्यामवर्ण कुबड़ी और कोढ़ रोग से दूषित होगई। तब आकाश में रही हुई हत्या ने लोगों से इस तरह कहा कि—

कुम्भमिन्न युगलेन किञ्चिदपं बालकस्य जननी व्यपोहति
कण्ठतालु रसनाभि रुज्झता दुर्जनेन जननी व्यपाकृता।

अर्थ-माता बालक के विष्टा को फूटे हुए घड़े के टुकड़े से दूर करती है मगर कण्ठ तालु जिव्हा से अवर्णवाद रूप विष्टा को बाहर फेंकने वाले दुर्जन ने तो माता को भी हरा दिया। इसलिये ऊपर कहा हुआ अवर्णवाद किसी को भी कल्याणकारी नहीं है "राजादिषु विशेषतः" इस वचन से बहुत लोगों से सम्मानित राजा, मंत्री, देव, गुरु और संघ वगैरह का अवर्णवाद तो कभी भी कल्याणकारी नहीं होता। राजादिक का अवर्णवाद बोलने से इस लोक में द्रव्य का नाश और भवान्तर में नीच गोत्र तथा कलंक वगैरह दोषों की प्राप्ति होती है। कहा है कि अपना हित चाहने वाले को असत्य, अभ्याख्यान (कलंक), चुगली और मर्मभेदक वगैरह दुःख के कारणभूत वचन नहीं बोलने चाहियें। पण्डित पुरुषों को तो दूसरों के दोषों को भी नहीं कहना चाहिये, जो दुर्बुद्धि दूसरे पुरुषों को कलंक देता है वह इस जगत् में निन्दनीय होता है और भवान्तर में तीव्र दुःखों का अनुभव करता है। जो दुष्टमति मात्सर्य के दोष से पाच समिति युक्त शुद्ध भावयुक्त और ब्रह्मचर्य युक्त साधु को कलंक देता है वह तीव्र पाप को उपार्जित करके पूर्व-भव में मुनि को कलंक देने वाली सीता की तरह दुःखों को प्राप्त होता है।

सीता का उदाहरण ३

इसी भरतक्षेत्र में मृणाल कुण्ड
नामक पुरोहित रहता था, उसकी सरस्व
नामक पुत्री थी। एकबार उसी नगर
आया। प्रतिमारूप कायोत्सर्ग ध्यान में
भक्ति पूर्वक वन्दन करने लगे। यह
ईर्ष्या में आकर लोगों को कहने लगी,
मूढ़ पाखण्डी को क्यों पूजते हो? मैंने त
करते देखा है। इस प्रकार वेगवती
किया। तब भोले लोगों ने मुनिश्री की
मुनिश्री ने भी अपने ऊपर लोगों की
ऊपर लगे हुए असत्य कलंकको जान लिया
कारण जैन शासन की अपभ्राजना मत
जहां तक यह कलङ्क उतरे वहां तक
ऐसी प्रतिज्ञा करके "काउस्सग" ध्यान
देवी की सहायता से वेगवती के शरीर में
और तत्काल ही उसका मुख शून्य हो ग
पास जाकर सब लोगों के समक्ष अपने अप
हुई वह बोली कि मैंने द्वेषभाव से साधु को झूठ
और अपने अपराधकी क्षमा मांगती

गई। तब शासन देवी ने उसे नीरोग कर दिया। मुनिश्री के
मुख से धर्म श्रवण करके उसने दीक्षा अंगीकार करली और
चिरकाल तक संयम का पालन कर वह सौधर्म देवलोक में देवीरूप
उत्पन्न हुई। वहां से काल करके जनक राजा की सीता नाम की
पुत्री हुई। पूर्वभव में साधु को खोटा कलंक दिया था जिससे
सीता को यहां कलंकित होना पड़ा। कलंकरहित होने से पूर्वोक्त
देवी की लोगोंने पूजा की और जैन शासन की प्रभावना हुई।

दूसरे का अपवाद जो सुनता है वह भी पापी होता है।

निवार्यतामालि ! किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतो विभाषते शृणोति तस्मादपि यः सपापभाक् ॥

अर्थ—हे सखी ! कुछ कहने की इच्छा वाले इस वटुक को
हटा क्योंकि जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है वही पाप का
भागी होता है।

छट्टे गुणकी समाप्ति करते हुए ग्रन्थकार उपदेश द्वारा बताते
हैं कि इस गुण को प्राप्त करने वाला गृहस्थ धर्म के योग्य है।

इत्थं सदा निन्द्यमवर्णवादं स्वयम्परेषां श्रवणं च तस्य।
त्यागेन सत्ताऽप्यतया गृहस्थःसद्धर्म योग्यो भवतीह सम्यक् ।

अर्थ—इस प्रकार निरन्तर निन्दा करने योग्य ऐसा दूसरे का

अवर्णवाद और उसका सुनना इन दोनों का त्याग करता हुआ गृहस्थ जगत् में प्रशंसनीय होने से इस लोक में अच्छी प्रकार सद्धर्म के योग्य होता है।

इति छठा गुण समाप्त ॥

सातवां गुण ।

"अनेक निर्गम द्वार विवर्जित निकेतनः"।

गृहस्थ के मकान आने जाने के अनेक मार्गों से रहित होने चाहियें।

इसका कारण यह है कि यदि घर के अनेक आने-जाने के दरवाजे हों तो अनेक पुरुषों के आगमन और प्रवेश की खबर नहीं रह सकती। कभी दुष्ट चोर वगैरह के आने से स्त्री आदिका पराभव रूप उपद्रव भी होजाता है। अनेक द्वार का निषेध होने से गृहस्थ नियमित द्वार से सुरक्षित मकान वाला होना चाहिये। और मकान को अनुचित स्थान पर न बनाना चाहिये।

दिशा है वह जमीन अशुद्ध गिनी गई है तथा सम (चौरस) सुन्दर आकृति हो, और पूर्व, ईशान, तथा उत्तर दिशा में के स्थान हों वह जमीन श्रेष्ठ कही है। जिस स्थानमें वृक्ष ध्वजा की प्रथम और चौथे पहर की छाया पड़ती हो शुभ है और दूसरे या तीसरे पहर की छाया अशुभ है। दाड़म (अनार), केला, बोरी और बीजोरे का वृक्ष जिस घर उत्पन्न होता है उस घरका मूल से नाश होजाता है। घर में दूध वाला वृक्ष होने से लक्ष्मी का नाश होता है, कांटे वाला वृक्ष शत्रु से भय देने वाला होता है। ऊपर कहे हुए वृक्षों का काष्ठ भी लेना योग्य नहीं है। किसी का यह भी मत है कि, घरकी पूर्व दिशा में बड़ का वृक्ष, दक्षिण दिशा में छिम्बरा, पश्चिममें पीपल और उत्तर में रूम्बल (पीपल) प्रशंसनीय है।

सर्प की बम्बी पर घर बनावे तो रोगकी उत्पत्ति होवे, पोली भूमि के ऊपर घर बनावे तो निर्धन होजाय। शल्ययुक्त जमीन पर घर बनावे तो मृत्यु होवे, जिस जमीन में मनुष्य का शल्य या केश हों तो वह जमीन मनुष्यों की हानि करने वाली होती है। जहां पर गधे का शल्य हो तो राज आदिक का भय रहे। कुत्ते का हाड़ हो तो बालकों का मरण हो, बच्चों का हाड़ हो तो गृहस्वामी [illegible] हो जाय। गाय का हाड़ [illegible] गाय का

मनुष्य के केश तथा कपाल और भस्म हो तो मालिक की मृत्यु हो। गृहस्थ जैनमंदिर के पीछे निवास न करे, शंकर तथा सूर्य की दृष्टि, वासुदेव का वामपार्श्व और ब्रह्मा का दक्षिणपार्श्व, त्याग करके मकान बनावे। दूसरे स्थान में भी कहा है कि जिनेश्वर की पीठ, सूर्य तथा शंकर की दृष्टि, और विष्णु का वामपार्श्व छोड़ देना चाहिये। चंडी सर्व दिशाओं में अशुभ है, अरिहंत की दृष्टि तथा दाहिन पार्श्व और शंकर की पीठ तथा वाम पार्श्व हो तो कल्याणकारी है। अगर इससे उलटा हो तो दुःख का कारण है। स्थान अच्छा भी हो तो भी घर निर्दोष बनाना चाहिये। कहा है कि—

पुरिसव्वगिहस्संगं हीणं अहियं न पावए सोहं।
सम्हासुद्धं कीरइ जेखगिहं हवइ रिद्धिकरं॥

अर्थ—न्यूनाधिक शरीर वाले पुरुष की तरह घर न्यूनाधिक हो तो शोभा को प्राप्त नहीं होता है, इसलिए जो निर्दोष घर बनाया हो सो वह ऋद्धि के करने वाला होता है।

हलका, कोल्हू का, जहाजका, गाड़ेका, अरहटका, यन्त्रका, कांटे वाले वृक्ष का, पांच जात के उम्बर वृक्ष का और दूध वाले वृक्ष का काष्ठ मकान बनाने वाले गृहस्थ को त्याग करना चाहिये। बीजोरा, केला, दाड़म (अनार), जम्बीर, आंबली,

बावल, बेरी और धतूरे के काष्ठ को भी त्याग करना उचित है। ऊपर कहे हुए वृक्षों की जड़ें जिस घर में प्रवेश कर गई हों और उनकी छाया जिस घर के ऊपर पड़ती होवे तो उस कुल का नाश हो जाता है। स्तंभ, पट्टा, छत, बारी, द्वार, शाखा ये तमाम पाषाणमय वस्तुएँ गृहस्थ के घर न होनी चाहिये। क्योंकि गृहस्थ को हानिकारक हैं परन्तु धर्म स्थान में सुखदायी है। पाषाणमय घर और काष्ठ के खम्भे, काष्ठमय घर और पाषाण के थम्भे वाला जो मकान हो वैसे गृहस्थ शीघ्र ही त्याग दे।

देव मन्दिर, कूप, बावड़ी, स्मशान, मठ, और राजमंदिर आदि का पाषाण, ईट और काष्ठ गृहस्थ किसी काम में भी न लावें। गोलाकार, कूनों से रहित, तंग, एक दो तीन कूणेवाला और दक्षिण तथा बाएं तर्फ से लम्बा हो तो वैसे घर में निवास करना योग्य नहीं है, जिस घरके दरवाजे स्वयं खुलें और बन्द होते हों तो वह अशुभ हैं।

घर के मूल द्वार पर चित्र तथा कलश से विशेष शोभा करनी शुभ गिनी जाती है। गणिका, नाटक, भारत, रामायण, राजा का युद्ध, ऋषि चरित्र, और देव चरित्रों के चित्र मकान पर चितने योग्य नहीं हैं। फलयुक्त वृक्ष, फूल, बोलडी, सरस्वती, नवनिधानयुक्त लक्ष्मी, कलश, वधामणा और स्वप्न की श्रेणि इत्यादि चित्र मकान के ऊपर चितने कल्याणकारी हैं।

घर पूर्व तर्फ से उन्नत हो तो धन की हानि करनेवाला होता है। दक्षिण तरफ से उन्नत हो तो द्रव्य की उन्नति करता है, पश्चिम तर्फ से उन्नत हो तो वृद्धि करता है, उत्तर की तरफ से उन्नत हो तो बस्तीका नाश करता है। नगर या गामके ईशान दिक्कूणों में घर नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि उत्तम पुरुषों को हानिकारक है और नीच जाति को वृद्धि करने वाला होता है।

जिस घर में वेधादिक दोष न हों घर के बनाने की तमाम वस्तु नई हों, बहुत द्वार न हों, धान्य का संग्रह हो, हमेशा घर की सफाई होती हो, जहां देवता की पूजा होती हो, आदर पूर्वक उत्सव होते हों, रक्तवर्ण की कनात द्वारके आगे हो, छोटे बड़ों की सुव्यवस्था हो, दीपक जलता हो, रोगी का पालन होता हो और थके हुओं की सेवा होती हो उस घर में लक्ष्मी निवास करती है।

पूर्वस्यां श्रीगृहं कार्य माग्नेय्याञ्च महानसम्।
शयनं दक्षिणस्यांतु नैऋत्यामायुधादिकम् ॥
भुजिक्रिया पश्चिमायां वायव्यां धान्य संग्रहः।
उत्तरस्यां जलस्थान मीशान्यां देवता गृहम् ॥

अर्थ—लक्ष्मी का स्थान पूर्व दिशा में, रसोई अग्निकोण में,

बुद्धनामा दो पुत्र थे,एक दफा श्राद्धके दिन अम्बिकाने एक महीने उपवासी मुनिको भाक्ति श्रद्धा श्रौर आनंद से दान दिया। उस वक्त दान देती हुईको देखकर अम्बिकाकी पड़ोसन राक्षसी जैसी शकल वाली कलह की मूर्ति दोनों हाथ ऊंचे किए पुकारती हुई घर से बाहर निकली और जो मुख में आया सो बोलने लगी। इस अवसर में कहीं गई हुई उसकी सासु भी आ गई और पड़ोसन के बचनों को सुन कर क्रोध से धाई हुई ने सोमभट्ट को कह दिया। सोमभट्ट ने कहा कि अरी पापिनी अभी तक तो कुल-देवता की पूजा भी नहीं की पितृपिण्ड भरा नहीं और ब्राह्मणों को भी नहीं जिमाया और तूने क्या किया? इत्यादि-आक्रोश बचनों से तिरस्कार कर अम्बिका को घर से निकाल दिया। अम्बिका भी अपने दोनों पुत्रों को साथ लेकर फौरन वहां से निकल गई। गाम में कहीं भी स्थान न मिलने से नगर से बाहिर चली गई। रास्ते के श्रम से अम्बिका के पुत्रों ने अपनी माता से पानी मांगा उसी समय उसके ब्रह्मचर्य के महात्म से सूखे हुए सरोवर में स्वच्छ पानी और शुष्क आम्र वृक्ष को फल आ गया। निर्मल जल पीने से और आम खाने से सुखी हुई अम्बिका आम वृक्ष की छाया में विश्राम लेने बैठी थी कि इतने में घर अंदर गई हुई उसकी सासु ने शील के माहात्म्यसे और मुनिदान से प्रसन्न हुए शासन देवता के प्रभाव से मुनिके

दान देने वाली जगह में रहे हुये सुवर्णमय आसनों को और चावलों को मोती रूप बने हुए देख कर रसोई के बर्तन जैसे के वैसे ही भरे हुए देख कर और खुश होकर पुत्र को कहने लगी कि हे पुत्र ! अपनी पतिव्रता बहू को फौरन् उसके पीछे जाकर वापिस ले आ । सोमभट्ट भी उसके महात्म्य को देख कर उसको वापिस लाने के लिये गया । पति को आता देख भय को प्राप्त हुई अम्बिका अपने दोनों पुत्रों सहित कूए में कूद पड़ी। मुनिदान के प्रभाव से वह कोदंड नामा विमान में अम्बिका नाम करके समृद्धिवती देवी हुई । लोकापवाद के डर से सोमभट्ट भी उसी कुवे में कूद पड़ा और काल करके उसी विमान में अभिमयोगिक कर्म के उदय से सिंह रूप धारी देवता अम्बिका का वाहन हुआ ।

॥ इति अम्बिका उदाहरण ॥

समाप्त करते हुये शास्त्रकार योग्य पड़ौस रखने का आग्रह करते हैं—

> इत्यम्बिकादिदहकन्दलमत्सरादीन्,
> कुमति वेश्मिकतया प्रतिभाव्य दोषान् ।
> श्राद्धः सदा स्वपर सौख्य समाधि हेतोः,
> सुमति वेश्मके गृहे विदधीत वासम् ॥

अर्थ - इस प्रकार इस लोकमें अग्निशाकी तरह खराब पड़ोस से अपवाद और ईर्ष्या वगैरह दोषों की प्राप्ति होती है ऐसा विचार कर श्रावक अपनी और परकी सुख समाधि के लिये अच्छे पड़ोस वाले मकान में निवास करना चाहिये।

॥ इति सातमा गुण समाप्त ॥

अष्टम गुण

उत्तम आचार वाले की संगति

"कृतसंगः सदाचारैः" सुंदर आचार अर्थात् इस लोक या परलोक में हित करनेवाली प्रवृत्ति को सदाचार कहते है। वैसे आचार वाले पुरुष की संगत करनी चाहिये। परन्तु जुआरी, धूर्त्त, बदमाश, भाट, भाण्ड और नटवा वगैरह की संगति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उनकी संगति करने से सदाचार नष्ट हो जाता है। कहा है कि—

यदि सत्संग निरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथासज्जन गोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥

अर्थ—अगर तू सत्पुरुष की संगत में आसक्त होगा तो सुखी होगा और अगर दुर्जनकी संगति में पड़ेगा तो दुःखी होगा।

सत्पुरुषों का संग करना योग्य है क्योंकि सत्पुरुष की संगति एक प्रकार की औषधि है, और सत्संगका महात्म्य एक आश्चर्य-कारी है। पार्श्वमणि के संग से लोहा सुवर्ण होजाता, काच सुवर्ण की संगत में मणि कहाता है, इसी तरह सत्संग करने से निर्गुण भी गुणवाला होजाता है, कुलहीन कुलवाला होजाता है।

जैसे जल में उत्पन्न हुआ शंख अग्नि के संबंध से दाह उत्पन्न करता है वैसे ही अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष भी कुसंग से विकार को प्राप्त होजाता है। अरे! मनुष्यादिक सचेतन तो दूर रहा परंतु वृक्ष में भी सज्जन और दुर्जनत्व रहा हुआ है, अशोक वृक्ष शोक का नाश करता है और कलि (बहेड़े) का वृक्ष कलह पैदा करता है।

जैसे घोड़ा कृष भी हो तो भी शोभा को प्राप्त होता है परंतु गधा पुष्ट होने पर भी शोभाको प्राप्त नहीं होता है वैसे ही सज्जन निर्धन भी हो तो श्रेष्ट है मगर अधम धनवान् होने पर भी किसी काम का नहीं, उपाधि जन्य दोष तो दूर रहा परंतु जैसे ज्ञानी की संगत होने से प्राणी के कर्मका नाश होजाता है इसी तरह स्वाभाविक दोष भी सत्संग से दूर चला जाता है, ऐसा सुना जाता है कि—

दो तोतों के एक ही माता पिता होने पर भी भिन्नकी संगत से एक को अवगुण पैदा हुआ और मुनियों की संगत से दूसरे को गुण हुआ था। हे राजन्! मेरे और उस पक्षीके माता पिता एक ही हैं मुझको मुनि ले आये और उसे भील ले गये। हे राजन्! वह पक्षी भीलों की बोली सुनता रहा और मैंने मुनियों की वाणी सुनी। बस संगत से दोष और गुण की प्राप्ति होती है यह आपने भी प्रत्यक्ष देखा है। कहा है कि—

धर्मध्वस्तदयो यशश्च्युतनयो वित्तं प्रमत्तः पुमान्।
काव्यं निष्प्रतिभस्तपः शमदयाशून्योऽल्पमेधा श्रुतम्॥
वस्त्वालोकमलोचनश्चलमनाः ध्यानञ्च वाञ्छत्यसौ।
यः संगो गुणिनां विमुच्य विमतिः कल्याणमाकांक्षति॥

अर्थ—जैसे निर्दय पुरुष धर्म को, अन्यायी यश को, प्रमादी पुरुष धन को, बुद्धिहीन काव्य को, समता और दया रहित पुरुष तपको, अल्पबुद्धि वाला श्रुतको, नेत्रहीन पदार्थ देखने को, चलचित्त वाला ध्यान को चाहता है वैसे ही दुर्मति मनुष्य गुणी के संग का त्याग करके कल्याण की इच्छा करता है।

सत्संग का उपदेश योंही प्राप्त नहीं होता है, इस संबंध में प्रभाकर का उदाहरण याद रखना चाहिये।

वीरपुर नगर में षट् कर्म में तत्पर दिवाकर नामा ब्राह्मण रहता था। उसके एक प्रभाकर नामका पुत्र था। वह जुआरी आदि कुव्यसनियों के साथ हर एक जगह में निरंकुश हाथी के समान अपनी इच्छा के अनुसार फिरने वाला था। उसके पिता ने उसे इस प्रकार की शिक्षा दी कि हे पुत्र! "कुव्यसनका त्याग कर" जिसके लिये कहा है :—

> वैर वैश्वानर व्याधिवाद व्यसन लक्षणाः ।
> महानर्थाय जायन्ते वकाराः पंच वर्द्धिताः ॥

अर्थ—वैर, वैश्वानर (अग्नि), व्याधि, वाद और व्यसन रूप ये पांच वकार वृद्धि पाने से महान अनर्थ के देनेवाले होते हैं। इस वास्ते हे वत्स! शास्त्रों का अवगाहन कर, काव्य सरूप अमृत का पान कर, कलाओं का अभ्यास कर, धर्म कर और अपने कुल का उद्धार कर। इस प्रकार की हितशिक्षा हमेशा से उसका पिता उसे दिया करता था परंतु प्रभाकर प्रत्युत्तर में ऐसा कहा करता था :—

> न शास्त्रेण क्षुधायाति न च काव्य रसेन तृट् ।
> एक मेवार्जनीयंतु द्रविणं निष्फलाः फलाः ॥

अर्थ—शास्त्राभ्यास से कोई भूख नहीं जाती, काव्य रस से प्यास नहीं बुझती इसलिए एक द्रव्य ही उपार्जन करना चाहिये और दूसरी कला तो निष्फल है।

इस प्रकार की कुयुक्तियों को सुन कर दिवाकर मौन रहता था, एक दफा मरने के समय दिवाकर ने स्नेह के साथ पुत्र को बुलाकर कहा कि पुत्र! यद्यपि मेरे वचन पर तुमको श्रद्धा नहीं है तो भी मेरी मृत्यु समाधि पूर्वक हो इसलिये एक श्लोक तू ग्रहण कर—

कृतज्ञस्वामिसंसर्गमुत्तमस्त्रीपरिग्रहम्।
कुर्वन्मित्रमलोभञ्च नरो नैवाव सीदति॥

अर्थ—कृतज्ञ स्वामी का संसर्ग, उत्तम स्त्री का संग्रह और निर्लोभी पुरुष के साथ मैत्री करने वाला पुरुष कभी दुःखी नहीं होता है। उत्तम पुरुषोंके साथ संगति करने वाला, पण्डितों के साथ गोष्ठी करने वाला और उदार पुरुषों के साथ मैत्री करने वाला कभी दुःखी नहीं होता, उक्त श्लोक प्रभाकरने पिता के आग्रह से ग्रहण कर लिया। पिता के स्वर्गस्थ हुए बाद प्रभाकरने श्लोककी परीक्षा करने की मन में ठानी। देशांतर जाते हुए किसी एक ग्राम में कृतघ्न और तुच्छ प्रकृति वाले सिंह नामक ठाकुर की वह सेवा करने लगा और उसकी अधम दासीको भार्या सरीके उसने स्वीकार कर लिया और उसी गाम का रहनेवाला निर्दाक्षिण्य शिरोमणि तथा केवल द्रव्य में ही विलुब्धलोभनन्दी नाम करके एक वणिक् को अपना मित्र बनाया। एक दफा राजाने सिंह ठाकुरको

बुलाया। वह प्रभाकर को साथ लेकर राजा के पास गया। प्रभाकर राजा को पंडित प्रिय समझ कर इस प्रकार बोला कि मूर्ख मूर्खके साथ, बैल बैल के साथ, हरिण हरिण के साथ और ज्ञानी ज्ञानी की संगति में आता है, इसलिए मित्रता समान शील वालेके के साथ होनी चाहिये। प्रभाकर की इस युक्ति से संतुष्ट हुआ राजा उसे बहुत से गामों सहित एक नगर देने लगा, परंतु प्रभाकर ने स्वयं न ग्रहण करके सिंह ठाकुर को दिलवा दिया।

इस तरह से प्रभाकर ने सिंह पर अनेक प्रकार के उपकार किये, दासी को सुवर्ण के भूषण दिये और लोभानन्दी को भी धनाढ्य बना दिया। सिंह के पास प्राणों से अधिक प्यारा एक मोर था। प्रभाकर की दासी भार्याको गर्भ के प्रभाव से उसका मांस खाने की इच्छा हुई। उस समय प्रभाकर ने "कृतघ्नस्वामि" इत्यादि श्लोक की परीक्षा के लिये राजा के मयूर को किसी अन्य स्थान में छिपाकर दूसरे एक मोर के मांस से अपनी भार्या का मनोरथ पूर्ण किया। इधर सिंह ने भोजन के वक्त मोर की चारों तरफ तलाश कराई जब वह कहीं से भी न मिला, तब उसने गाम में पटह बजवाया कि जो पुरुष मोर की खबर देगा राजा उसे १०८ सोना मोहर इनाम देगा। इस प्रकार की डोंडी सुनकर मुझे दूसरा स्वामी मिल जायगा ऐसा विचार कर द्रव्य में लुब्ध हुई दासी ने राजा को कहा कि हे राजन्! मेरे मना करते हुए

भी अत्यन्त विषयासक्त प्रभाकर ने मेरा दोहला पूर्ण करने के लिये दूसरा मोर न मिलने से आपके मोरको मार डाला है। ऐसा दासी का कहना सुन सिंह की तरह क्रूर और क्रोधयुक्त हुए सिंह ने प्रभाकर को पकड़नेके लिये अपने वीर नौकर भेजे। इस खबर को सुनकर डरा हुआ प्रभाकर मित्र के घर गया और कहने लगा कि हे मित्र! मेरी रक्षाकर! रक्षाकर! तब लोभानन्दी ने कहा कि तूने राजा का क्या नुकसान किया है?

प्रभाकर—मैं ने स्त्री के लिये राजा का मोर मार डाला है।

लोभानन्दी—स्वामी का द्रोह करने वाले को यहां स्थान नहीं। जलते हुए घास के पूले को भला कौन घर में डाले इत्यादि बोलते हुए उस मित्र के घरमें प्रवेश करना ही चाहता था कि इतने में लोभानन्दी ने पुकार करनी शुरू की। उसी वक्त राजा के सभटों ने आकर उसे पकड़ लिया और राजा [illegible] देख

वापिस देदिया, और प्रभाकर बोला कि "पिता का वचन देव समान है उसका उल्लंघन करने से तत्काल ही ऐसा फल प्राप्त हुआ है।" ऐसा कथन कर और सिंह राजा की आज्ञा लेकर प्रभाकर वहां से चल निकला और रास्ते में ऐसा विचार करने लगा:—

वरं विहर्तुंसह पन्नगैर्भवेच्छठात्मभिर्वा रिपुभिः सहोषितम्।
अधर्मयुक्तैश्चपलै रपंडितैर्न पापमित्रैः सहवर्त्तितुं चमम्॥
इहैव हन्युर्भुजगाहि रोषिता धृतासयाश्छिद्र मपेक्ष्य बाऽरयः
असत्प्रवृत्तेनजनेन संगतः परत्र चैवे हच हन्यते जनः॥
नृणां मृत्युरपिश्रेयान् पंडितेन सह ध्रुवम्।
न राज्यमपि मूर्खेण लोकद्वय विनाशिना॥

अर्थः—सर्पों के साथ विचरना और शठपुरुषों और शत्रुओं के साथ निवास करना अच्छा है परंतु धर्महीन चपल मूर्ख और पापी मित्रों के साथ वर्तन करना ठीक नहीं है।

कोपायमान सर्प और तलवार धारण करने वाला शत्रु तो छिद्र देखकर इस लोक में ही प्राणों का नाश करता है परंतु असत् प्रवृति वाले पुरुष के साथ संगति करने वाला पुरुष दोनों लोक में मारा जाता है।

पंडित के साथ रहने से मनुष्य का मरण हो तो भी कल्याणकारी है मगर उभय लोक का नाश करने वाले मूर्खके साथ रहने से राज्य भी योग्य नहीं है।

ऐसा विचार करता हुआ प्रभाकर सुन्दरपुर नगर में पहुंचा। वहां हेमरथ राजा था। उसके सदाचारी कृतज्ञ, और अनेक गुण-युक्त गुणसुन्दर नामा पुत्र था। प्रभाकर ने उसे नगर के बाहर देखा और उसे प्रणाम किया। कुमार ने भी बड़े हर्ष से प्रभाकर का सत्कार किया। कहा है:—

प्रसन्नादृग् मनः शुद्धं ललिता वाग्नतं शिरः।
सहजार्थिष्वियं पूजा विनापि विभवं सताम्॥

अर्थः–प्रसन्न दृष्टि, निर्मल अन्तःकरण, सुन्दर वाणी और नमा हुआ मस्तक इनसे सत्पुरुष विना धन के भी धनवानों का सत्कार कर सकते हैं।

कुमार के स्नेह युक्त आलाप को देखकर प्रभाकर विचार करने लगा कि अहो इस कुमार की मूर्ति कैसी आश्चर्य जनक है। कितनेक पुरुष बाल्यावस्था में ही द्राक्ष (दाख) के समान मधुर होते हैं कितनेक आम की तरह कालान्तर में मधुरता को प्राप्त होते हैं और कितनेक इन्द्र वारण (तुम्मा–जिसमें अजवेन और निमक भरते हैं) के फल की तरह पकने से भी मधुरता को प्राप्त नहीं होते हैं जहां आकृति हो वहां ही गुण निवास करते हैं ऐसा निश्चय

कर प्रभाकर उसकी सेवा करने लगा। कुमार ने भी उसके रहने के लिये नगर के अन्दर उसे एक मकान दे दिया। प्रभाकर ने वहां पर उत्तम स्वभाववाली स्थिरतावाली और विनयादि गुणवाली एक ब्राह्मणी को अपनी भार्या बनाया और महा धनाढ्य, परोपकारी और नगर में मुख्य ऐसे वसन्तनामा वणिक को अपना मित्र बनाया। राजा की मृत्यु के बाद गुण सुन्दर कुमार राजसिंहासन पर बैठा और तमाम कार्य करने में कुशल प्रभाकर को मन्त्री बनाया। एक दफा घोड़ों के व्यापारियों ने अच्छी जातिके दो घोड़े राजाको भेट किये। व यद्यपि उत्तम लक्षण वाले थे मगर शिक्षा उलटी पाये हुए थे। इस बात को न जानते हुए राजा और मन्त्री दोनों घोड़ों पर सवार होगये। नगर के बाहर जाकर चाल देखने की इच्छा से दोनों ने घोड़ों को जोर से चाबुक मारी। घोड़े ऐसी तेजी से चले कि, कोई भी उनकी गति को न पहुँच सका। अनुक्रम से बन में आमले के वृक्ष के नीचे से निकलते हुए निशाने बाज मन्त्री ने तीन आमले तोड़ लिये। बाद में घोड़ों की लगामें छोड़ दीं और दोनों घोड़े फौरन् खड़े होगये। उस वक्त राजा को तृषा खूब लगी थी, मन्त्री ने एक आमला उसे दिया एक फिर दिया। थोड़ी देर के बाद तीसरा दिया। इतने में पीछे रही हुई सेना भी आपहुंची और वे आनन्द पूर्वक नगर में पहुंच गये।

गुण सुन्दर राजा का एक पांच साल का पुत्र था। वह बालक हरिण को साथ लेकर हमेशा मन्त्री के घर क्रीड़ा के लिये

आता था। एक दफा मन्त्री ने राजा की परीक्षा के लिये राजकुमार को कहीं छिपा दिया। राजा ने भोजन के समय सब जगह पर कुमार की तलाश कराई मगर कहीं से भी पता न मिला। पुत्र के गुप्त होने से राजा पागल समान होगया। और तमाम परिवार बड़ी सोच में पड़ गया। इस अवसर पर किसी ने शंका करके कहा कि "कुमार मन्त्री के घर गया था" तब सब लोगों के चित्त में मन्त्री के ऊपर शंका होगई। मन्त्री भी राजसभा में गया नहीं था इसलिये लोगों का ख्याल मन्त्री के ऊपर ज्यादा होगया।

इधर मन्त्री की भार्या अपने पति से बोली कि हे स्वामिन्! आज आप राजसभा में क्यों नहीं गये! मन्त्री ने कहा कि हे प्रिये! मैं आज राजा को मुख दिखलाने में समर्थ नहीं हूं क्योंकि आज मैंने राजकुमार को मार दिया है। भार्या ने कहा कि "हे नाथ! यह क्या" मन्त्री बोला कि उस दिन तू कहती न थी कि गर्भके प्रभाव से यह राजपुत्र शत्रु की तरह मेरे नेत्रों में दाह उत्पन्न करता है, इसलिए मैंने तेरे चित्त की समाधि के लिए उसे मार डाला है।" यह सुन मन्त्री की भार्या चित्त में अनेक संकल्प विकल्प करती हुई बसंत मित्रके घर गई वहां जाकर तमाम हाल उस ने कह सुनाया। इस बात को सुन बसंत मित्र ने कहा कि तुम इस बात की कुछ फिकर न करो मैं स्वयं राजाके यहां जाऊंगा।

इस तरह मन्त्री की पत्नी को धीरज देकर आप राजसभा में गया। वहां राजा से विनयपूर्वक बोला कि हे देव ! इस विषय में मन्त्री का लेश मात्र भी अपराध नहीं है इस विषय में मेरा ही अपराध है। इस प्रकार बोलता ही था कि इतने में मन्त्री की भार्या आ पहुँची और कहने लगी हे राजन् ! मेरे दोहले को पूर्ण करने के लिये यह बात बनी है। पीछे से मन्त्री भी आगया और कम्पायमान शरीर से कहने लगा कि हे राजन् ! मेरे दुःख से दुःखी हुए वसंत और मेरी स्त्री अपना अपराध जाहिर करते हैं परन्तु सब अपराध मेरा ही है इसलिये मेरे प्राण लेने चाहिये। यह मामला देख कर राजा विचार करने लगा कि यह मन्त्री सब प्रकार से मेरा हित करने वाला है और आमले देकर मुझको जीवन दान देने वाला है। मन्त्री को कहा कि हे मित्र! यदि तू उस वक्त मुझे आमले का फल न देता तो मैं कहां से राज्य, कहां से पुत्र कहां से और कुटुम्ब पाता। मन्त्री ने कहा कि इस तरह कहने से आप कृतज्ञता प्रकट करते हैं, परन्तु तुम्हारे पुत्र रूप रत्न का नाश करने वाले को तो दण्ड देना ही चाहिये। राजा ने कहा "जो ऐसा ही है तो तीन आमलों में से एक आमला वापिस होगया" मन्त्री बोला कि हे देव ! हे सर्वगुणाधार ! अगर इस प्रकार है तो तीनों ही रहने दो और आप चिरकाल तक कुमार के साथ राज्य करो। यह कहकर गुप्त स्थान से जहां उसे छिपा रक्खा था लाकर लड़के को प्रस्तुत कर दिया। कुमार

को देखकर सबको आनन्द हुआ। हे मन्त्रिन्! यह क्या? ऐसा राजा के पूछने पर प्रभाकर ने पिता के हुक्म से लेकर अपना कुल वृत्तान्त कह सुनाया। इस स्वरूप को सुनकर राजा ने मन्त्री को अर्द्धासन पर बैठाकर कहा "हे मन्त्रिन्! मैंने अमूल्य आमले की पुत्र के समान तुलना की, उसे सहन करना" इत्यादि प्रीतियुक्त वचनों से प्रभाकर को खुश किया और प्रभाकर ने उत्तम स्वामी वगैरह की परीक्षा करके राजा के साथ रह कर चिरकाल तक राज्य का पालन किया। अब ग्रन्थकार समाप्ति करते हुए उपदेश द्वारा सज्जन पुरुष का संग करने में आग्रह करते हैं।

> प्रभाकरस्येव समीक्ष्य साक्षात्।
> फलानि सङ्गात् सदसज्जनानाम्॥
> विवेकिना सौख्य गुणाद्यवाप्त्यै।
> कार्यः सदा सज्जन सङ्ग रङ्गः॥

अर्थ—विवेकी मनुष्य को सज्जन और दुर्जन के संग में जो फल प्राप्त होता है प्रभाकर की तरह उसे साक्षात् देखकर सुख और गुण वगैरह को प्राप्त करने के लिये हमेशा सज्जनों का संग करना उचित है।

इति आठवां गुण समाप्त।

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर

की

नियमावली।

१-इसका मेम्बर हर एक हो सकता है।

२-फ़ीस मेम्बरी कम से कम २) वार्षिक है, अधिक देने का हरएक को अधिकार है। फ़ीस अगाऊ लीजाती है। जो महाशय एक साथ सोसायटी को ५०) देंगे, वह इसके लाईफ़ मेम्बर समझे जावेंगे। वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया जावेगा।

३-इस सोसायटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होता है। जो महाशय मेम्बर होंगे वे चाहे किसी महीने में मेम्बर बनें; चन्दा उनसे ता॰ १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक का लिया जावेगा।

४-जो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितर्ण कराना चाहें, इनका नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जायगा।

५-जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हर एक मेम्बर के पास बिना मूल्य भेजे जाया करेंगे।

सेक्रेटरी

श्राद्ध गुण विवरण

पाँचवाँ भाग।

पं० रामचरित उपाध्याय.

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

परमर्षि श्री जिन मण्डन गणि विरचित

श्राद्ध गुण विवरण

पाँचवाँ भाग

ट्रैक्ट नं० ७४

अनुवादक—

पं० रामचरितजी उपाध्याय

प्रकाशक—

मंत्री—श्री आत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर।

वीर संवत् २४५१ | प्रति ७५० | विक्रम संवत् १९८२

आत्म संवत् ३० | मूल्य -)॥ | ईस्वी सन् १९२५

मुद्रक—मोहनलाल वैद

सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, बेलनगंज—आगरा।

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्राद्ध गुण विवरण

पांचवां भाग

अथ नवम गुण

माता पिता का पूजन करना।

मातापित्रोश्चपूजकः—गृहस्थ को चाहिये कि त्रिकाल में अर्थात् सबेरे, दोपहर और सन्ध्या के समय प्रति दिन माता पिता की प्रणामादिक से पूजा करे। कहा भी है—

मातृ पित्रादि वृद्धानां नमस्कारं करोति यः।
तीर्थयात्राफलं तस्य तत्कार्योऽसौ दिनेदिने॥

अर्थात्—जो मनुष्य माता पिता आदि बड़ों को नमस्कार करता है, उसे तीर्थ यात्रा का फल होता है। इसलिए श्रेष्ठ लोगों को निरन्तर नमस्कार करना चाहिए।

विवेचन—पूज्यों में सब से श्रेष्ठ माता पिता है। जैसे शास्त्रों में तीनों समय देवपूजाकी करने आज्ञा है, वैसे ही माता पिता आदि बड़ों कोभी प्रति दिन तीनों समय नमस्कार करने की आज्ञा है। इसीलिए उन्हें सर्वदा नमस्कार करना चाहिए।

जो मनुष्य अपने उपकारी पूज्यवर्ग का तिरस्कार करता है, वह कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकता। जिस माता और पिता ने अपने ऊपर अपार उपकार किया है, उसका बदला किसी प्रकार भी नहीं दिया जा सकता, इसलिए माता पिता की सेवा रूप पूजा अवश्यमेव करनी चाहिये।

माता पिता की पूजा करने वाला घर बैठा ही तीर्थ-यात्रा का फल प्राप्त कर लेता है। यदि नित्य तीनों समय न हो सके तो धर्माभिलाषी पुरुषों को चाहिये कि सवेरे के समय एक बार अवश्य माता पिता को प्रणाम किया करें।

जब से इस शास्त्रीय आज्ञा का लोप हुआ, तभी से अनेक प्रकार की आपत्तियां दृष्टिगोचर होने लगी हैं। क्योंकि सब सुख धर्म के प्रभाव से मिलते हैं, और धर्म का हेतु विनयाचरण है। जब मूल ही नष्ट हो गया तो पत्र पुष्पादि कहां लगेंगे ? इसलिए यदि गृहस्थ को धार्मिक बनना हो तो वह पहले शास्त्र की आज्ञा का पालन करें। सब सुख सम्पत्तियों का कारण माता पिताकी आज्ञा है, और उनकी आज्ञानुसार चलने को ही शास्त्रकारों ने पूजन कहा है।

जो माता पिता के हितकारी वचनों की अवहेलना करते हैं उन्हीं को कुपुत्र कहना चाहिये। क्योंकि माता पिता का विरोधी पापी समझा जाता है, और वह इस लोक मे निंदित होकर पर-

लोक में दुर्गति भोगता है। माता पिता कभी अपनी सन्तान की बुराई नहीं चाहते, इसलिये उनकी आज्ञा पर कुतर्क करना सुपुत्र का काम नहीं। माता पिता में यदि कुछ दुर्गुण भी हो तो पुत्र को उचित है कि उस पर ध्यान न दे। सुयोग्य पुत्र का यही कर्तव्य है कि जैसे तैसे माता पिता की पूजा सेवा करके उनके चित्त में सुख शान्ति पहुंचाये।

सांसारिक प्राणियों को तारने वाले दो तीर्थ हैं। एक स्थावर और दूसरे जंगम। यद्यपि स्थावर तीर्थ के तुल्य माता पिता को कहा गया है, परन्तु कई शास्त्रकारों ने स्मृति पुराणादि ग्रन्थों में स्थावर तीर्थ से भी बढ़कर माता पिता को माना है। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य माता पिता का सेवक है, वही पुरुष विधिपूर्वक तीर्थ यात्रा और तीर्थों का बहुमान आदि कर सकता है। माता पिता को हितकारी समझकर उनका सेवानुष्ठान करनेसे, लौकिक तथा पारलौकिक कार्यों को उनके कथनानुसार करने से, और फूल, फल, अन्न, वस्त्र आदि पदार्थ उन्हें अर्पण करने से माता पिता की पूजा होती है। उपरोक्त विधि के विपरीत करने वाले को कदापि धार्मिक न समझना चाहिए।

पिता से माता विशेष पूज्य है, इसीलिये सर्वत्र माता शब्द को पहले ग्रहण किया है। मनुजी ने कहा भी है---

उपाध्यायाद् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रंतु पितुर्माता गौरवेणाति रिच्यते॥

अर्थात्—दश उपाध्याय के तुल्य एक आचार्य है, और सौ आचार्यों के तुल्य पिता है, और हजार पिताओं से भी अधिक एक माता है। वृद्ध पतित हो जावे तो उसका परित्याग हो भी सकता है परंतु माता का परित्याग न करना चाहिए, क्योंकि अरसठ तीर्थ, तेंतीस करोड़ देवता और अट्टासी हजार ऋषि उसके चरणों में निवास करते हैं। दूसरा कारण यह है कि वह अपने पुत्र को गर्भ में पालती है, इसलिए उसका स्वप्न में भी अनादर नहीं करना चाहिए। स्मृतियोंमें अड़तालीस तीर्थों का वर्णन है, उनमें गंगा सर्व श्रेष्ठ कही गई है। परंतु गंगा से भी अधिक श्रेष्ठ माता को कहा है, श्राद्धाधिकार में पहले माता का, उसके पीछे पिता का, उसके भी पश्चात पितामह (दादा) का श्राद्ध करने की रीति है। इसी प्रकार लौकिक शास्त्रों में माता का महत्व अधिकाधिक वर्णित है। देखिए—

आस्तन्यपाना ज्जननी पशूनाम्;
आहारलाभावधि चाधमानाम्।
आगेहकर्मावधि मध्यमानाम्,
आजीविता तीर्थमिवोत्तमानाम् ॥

अर्थ—जब तक दूध पिलाती है तब तक पशु माता को मानते हैं, जब तक स्त्री नहीं मिल जाती तब तक अधम पुरुष

माता को मानते हैं, और जब तक गृहस्थ के कर्म को करते रहते हैं, तब तक मध्यम पुरुष माता को मानते हैं, परन्तु उत्तम पुरुष जब तक माता जीती रहती है तब तक उसे तीर्थके समान समझते हैं। आगम में भी कहा है–

तिण्हं दुप्पडि आरं समणाओ सो तं जहा।
अमपिउणां भट्टिदायगस्स धम्मापरियस्स॥

अर्थ–हे श्रमण लोगो। माता-पिता, स्वामी, और धर्माचार्य इन तीनों के उपकार का बदला देना बड़ा कठिन है। यदि कोई कुलीन पुरुष सर्वदा प्रातः काल माता पिता के शरीर में शतपाक या सहस्रपाक के तेल का मर्दन करे, सुगन्धित चूर्ण का उबटन करे, और सुवासित उष्ण शीतल विविध प्रकार के जल से स्नान करावे, एवं सब अलंकारों से विभूषित करे, अठारह प्रकार के व्यञ्जनों को खिलावे, तथा जब तक माता पिता जीवित रहे तब तक अपनी पीठ पर उन्हें चढ़ा कर घुमावे, तो भी उनके उपकार का बदला नहीं हो सकता। हाँ, यदि माता पिता को धर्म सुनाता हुआ, धर्म का प्रतिबोध दे करके एवं धर्म के भेद समझा कर सर्वज्ञ के कहे हुए धर्म में उन्हें स्थापित करे तो माता पिता के उपकार का बदला दिया जा सकता है। (इसी प्रकार स्वामी सेवक का भी सम्बन्ध समझना)

कोई गुणी पुरुष उत्तम गुण वाले साधु या श्रावक के समीप जाकर, शास्त्र-कथित धर्म-सम्बन्धी उत्तम वचनों को श्रवण करे, या मन में धारण कर फिर काल-कवलित होकर किसी भी देवलोक में उत्पन्न हो, उस समय वह देव अपने धर्माचार्य को यदि दुर्भिक्ष देश से सुभिक्ष देश में लावे, या मरुस्थल से सुप्रदेश में पहुंचावे, अथवा दीर्घ काल से व्याधि-पीड़ित को नीरोग करे, तो भी उसका प्रत्युपकार नहीं होता। परन्तु वह देव यदि अपने धर्माचार्य को धर्म-ज्ञान से भ्रष्ट देख कर उसे वारम्बार धर्म सुनावे, उसे धर्म का बोध करावे, धर्म के दूसरे भेद को समझा करके ज्ञानी-निरूपित धर्म में दृढ़ करे तो अवश्य धर्माचार्य के उपकार का बदला दिया जा सकता है। इसी लिए ज्ञानदिवाकर, त्रिभुवन-गुरु श्रीवीर प्रभु अपने ब्राह्मण माता पिता (देवानंदा और ऋषभदत्त) को प्रतिबोधित करने के लिए ब्राह्मण कुंड ग्राम के उपवन में पधारे थे। उस समय श्री महावीर स्वामी का दर्शन होते ही देवानन्दा के स्तनों से दूध की धारा बह चली। इस घटना को देख कर इन्द्रादिक देवों की सभा में श्री गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि "भगवन्! यह देवानन्दा किस प्रकार आप की माता है"? उत्तर में भगवान ने अपना देवानन्दा के गर्भ में आना, और इन्द्र की आज्ञासे हरिण गमेषि देव के किये हुए गर्भापहरण आदि का पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया।

सुन कर प्रभु के माता-पिता प्रति बोध पाये और उन्होंने दीक्षा ग्रहण करली। ग्यारह अंगों का पठन करके उन्होंने कैवल्य प्राप्त किया। तदनन्तर मोक्ष भी प्राप्त किया। कहा भी है—

वीरजिण पुव्व पियरो देवाणंदा उसभदत्तो अ।
इक्कारसंगविउणो होऊणं सिवसुहं पत्ता॥

अर्थात्—महावीर स्वामी के पहले माता-पिता देवानन्दा और ऋषभदत्त ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष-सुख को प्राप्त हुए। इसी भांति भीष्मपितामह ने माता पिता की प्रसन्नता के लिए आज्ञा पालन के लिए और उनके मनको समाधि पहुंचाने के लिए अपना विवाह न करने की प्रतिज्ञा करली थी।

प्रथम राजा का पुरोहित श्री आचार्य रक्षित चौदह विद्या का अध्ययन करके दशपुर नगर में आया। उस समय राजा आदि ने महोत्सव पूर्वक उसका नगर में प्रवेश कराया। उसे देख कर सभी को आनन्द हुआ। परन्तु माता को हर्षित न देखकर उसने कारण पूछा। फिर माता की आज्ञा लेकर तोपली पुत्राचार्य के पास दृष्टिवाद का अभ्यास करने के लिये गया। जा कर वहीं उसने दीक्षा ग्रहण करली तब अपने माता-पिता भाई-बन्दों को प्रति बोध दिया।

माता पिता के उपलक्षण में कलाचार्य श्रेष्ठी और धर्म गुरु आदि का भी ग्रहण करना चाहिए।

माता पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः॥

अर्थात्—माता, पिता, कलाचार्य, और उनके कुनबेवा
तथा बूढ़े लोग, और धर्म के उपदेश देने वाले ये सभी सत्पुरु
के मत से गुरुवर्ग हैं।

राज्ञः पत्नी गुरोः पत्नी मित्र पत्नी तथैव च।
श्वश्रु र्माता च माता च पञ्चैते मातरः स्मृता॥

अर्थात्—राजा की स्त्री, गुरु की स्त्री, मित्र की स्त्री,
सास, और माता ये पांचों मातायें हैं।

जनिता चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥

अर्थात्—जन्म देने वाला, संस्कार करने वाला विद्या देने
वाला, अन्न देने वाला, और भय से बचाने वाला ये पांचों
पिता कहे जाते हैं।

सहोदरः सहाध्यायी मित्र वा रोगपालकः।
मार्गे वाक्यसखा यस्तु पञ्चैते भ्रातरः स्मृताः॥

अर्थात्—सगा भाई, संग का पढ़ने वाला, मित्र, रोग की
दशा में रक्षा करने वाला, और रास्ते में बात चीत करने वाला
ये पांचों भाई हैं।

फिर भी ग्रन्थकार माता पिता की सेवा-रूप पूजा को दृढ़ करने के लिये आग्रह करता है कि--

कृतज्ञता मात्मनि संविधातुम् ,
मनस्विना धर्ममहत्वहेतोः ।
पूजा विधौ यत्नपरेण माता-
पित्रोः सदा भाव्य मिहोत्तमेन ॥

अर्थात्--स्वतंत्र विचार वाले उत्तम पुरुष को उचित है कि अपनी आत्मा में कृतज्ञता लाने के लिए, और संसार में धर्म की श्रेष्टता दिखलाने के लिए सदा माता पिता की पूजा करने में तत्पर रहे।

नवम गुण समाप्त।

दशवां गुण

उपद्रव वाले स्थानको त्याग करना।

"त्यजन्तूपप्लुतम् स्थानम्"--धार्मिक मनुष्य को उचित है कि जहां स्वचक्र परचक्र के बैर से दुष्काल मारी आदि ईति-भीति हो, और प्रजा के परस्पर विरोध से या क्लेश से उपद्रव

होता रहे, उस स्थान में न रहे। यदि ऐसे निन्दित स्थान को नहीं छोड़ेगा तो उसे नये धर्मार्थ का प्राप्त होना तो दूर रहा पूर्वोपार्जित भी उसके कामार्थादि नष्ट हो जाते है। इस कारण उस मनुष्य के लोक परलोक दोनों चौपट हो जाते हैं।

जैसे द्वारका नगरी में उपद्रव हुआ तो द्वारका के साथ साथ वहां के रहने वाले भी नाश को प्राप्त हुए। इसी प्रकार वल्लभी नगरीमें उपद्रव हुआ और वहां के निवासी वहीं बने रहे। परिणाम यह हुआ कि उस वल्लभी नगरी के साथ वे सब भी नष्ट हो गये। इसलिए उपद्रवी स्थान में न रहना चाहिये।

अथवा अर्थ, काम, धर्मादिक में बाधा डालने वाले जहां भील कोल आदि हिंसक अनम्य रहते हों, और देवगुरु की सामग्री से रहित हो, उस नगर को उपप्लुत कहते हैं। ऐसे दूषित स्थान में जिसे धर्मोपार्जन करने की इच्छा हो, वह मनुष्य कदापि न रहे। क्योंकि वहां रहने से चोर, परस्त्री-गमन करने वाले और दुष्ट राजा के संसर्ग से धर्मादिक की हानि होती है। और देव दर्शन, गुरु का आगमन और साधर्मिक का संसर्ग न होने से नये धर्मादिक का उपार्जन भी नहीं हो सकता। फिर कैसे स्थान में रहना चाहिए? सुनिए—

सद्धर्मदुर्गमुन्नामि व्यवसाय जलेन्धने।
स्वजातिलोकरम्ये च देशे मायः सदा वसेत्॥

गुणिनः सूनृतं शौचं प्रतिष्ठागुणगौरवम् ।
अपूर्वज्ञानलाभश्च यत्र तत्र वसेत्सुधीः ॥

अर्थात्—जहां पर अच्छा धर्म हो, किला हो, व्यापार हो, जल हो, पाक बनाने के लिए लकड़ी मिले, अपनी जाति वाले जहां निवास करते हों ऐसे मनोहर देश में प्रायः रहना चाहिए। और जहां पर गुणी लोग रहते हों, उत्तमोत्तम वार्ता होती हो, पवित्रता रहती हो, प्रतिष्ठा हो, गुण का गौरव हो, अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति हो, वहां पर बुद्धिमान निवास करे।

यद्यपि पहले ही कुत्सित देश में रहने का निषेध ग्रन्थकार ने कर दिया है। परन्तु फिर भी मना करता है—

यत्र देशे न सम्मानं न वृद्धिर्न च बान्धवाः ।
न च विद्यागमः कश्चिन्न तत्र निवसेद्बुधः ॥
अनायके न वास्तव्यं न वास्तव्यं बालनायके ।
स्त्रीनायके न वास्तव्यं न वास्यं बहुनायके ॥
बालराज्यं भवेद्यत्र द्वैराज्यं यत्र वा भवेत् ।
स्त्रीराज्यं मूर्खराज्यं वा यत्र स्यात्तत्रनो वसेत् ॥

अर्थात्—जिस स्थान पर सम्मान, वृद्धि, और विद्या की प्राप्ति न [illegible] बन्धु लोग रहते हों, उस देश में बु[illegible]

जन न रहे। जहां पर राजा न हो, या बालक राजा हो, या स्त्री राज्य करती हो वहां भी नहीं रहना चाहिए। अथवा जहां बालक राजा हो, या दो राजा हों, या मूर्ख राजा हो, या स्त्री राज्य करती हो वहां पर निवास कदापि न करना चाहिए।

उदाहरण देकर इस विषय को शास्त्रकार और भी स्पष्ट कर रहे हैं कि-पद्मपुर नामक नगर में निर्विचार नाम का एक राजा रहता था। उसके मंत्री का नाम पाषाण भेदी था। एक समय मालवा के राजा श्रीविक्रम किसी स्त्री राज्य की ओर गया। फिर पद्मपुर में जाकर कुछ समय तक रहा।

एक बार राजा विक्रम, उस निर्विकार राजा की सभा में गया था। उस समय सभा में एक चोर की माता राजा से इस प्रकार कह रही थी "राजन्। मेरा पुत्र पांच प्रकार के चौराचा से चोरी करता था। एक दिन वह धन्य नामक बनिये के घर सेंध दे रहा था कि भीत के गिरने से दब कर मर गया। अब मैं आप से न्याय चाहती हूं, कीजिये" उसकी बात को सुन कर राजा ने उस बनिये को बुलवा कर चोर के मरने का कारण पूछा। बनिये ने कहा इसमें मिस्त्री का दोष है मेरा नहीं। राजा ने मिस्त्री को बुलवा कर भीत गिरने का कारण पूछा, उसने उत्तर दिया कि भीत बनाते समय सामने एक वेश्या आ गई, मेरा मन चंचल हो गया। इस लिए वह भीत ठीक नहीं बनी।

मैं निर्दोष हूं। तब राजा ने उस वेश्या को बुलवा कर वहां पर जाने का कारण पूछा। वेश्या ने कहा "मैं क्या करूं? मैं तो दूसरी ओर जा रही थी, सामने एक नग्न पुरुष के आ जाने से लज्जित होकर मैं उस ओर चली गई जहां पर भीत चुनी जा रही थी। दोष उस नग्न पुरुष का है मेरा नहीं" वेश्या की बात सुन कर राजा ने उस नग्न पुरुष को भी बुलवा कर वेश्या के सम्मुख जाने का कारण पूछा, परन्तु उसने कुछ भी उत्तर न दिया। तब उस निर्विचार राजा ने बनिया, मिस्त्री, वेश्या तीनों को छोड़ दिया, उसी नग्न पुरुष को दोषी ठहरा कर, क्रोध के मारे फांसी की आज्ञा दी। परन्तु वह पुरुष दुबला था, फांसी ढीली पड़ गई, वह बात राजा से कही गई। राजा ने उत्तर दिया "जिसका गला फांसी में ठीक आवे उसी को दंड दो" आज्ञा होते ही राजा के साले को फांसी हो गई। कहा भी है—

विचारयति कस्तत्त्वं निर्विचारे नृपे सति।
राजोक्त्या राजशालोऽपि शूलाया मधिरोहति॥

अर्थात्—जब राजा ही विचार-हीन है, तो यथार्थ बात का विचार कौन कर सकता है? देखिये न राजा के कहने से राजा का साला (निरपराध) शूली पर चढ़ा दिया गया।

इस प्रकार का अन्धेर देखकर राजा विक्रम वहां से झट पट भाग कर अपने काम के लिए अन्यत्र चला गया। क्योंकि—

यदि वाञ्छसि मूर्खत्वं ग्रामे वस दिनत्रयम् ।
अपूर्वस्यागमो नास्ति पूर्वाधीतं विनश्यति ॥

अर्थात्—यदि तू मूर्ख होना चाहता है तो केवल तीन ही दिन ग्राम में रह । क्योंकि ग्राम में नवीन ज्ञान तो मिलेगा नहीं, और पहले का मिला हुआ भूल जायगा ।

रहने के योग्य कौन स्थान है ? उसे भी सुनिए—

जत्थपुरे जिणभवणम्
समय विऊ साहु सावया जत्थ ॥
तत्थ सया वसियधम्
पउरजलं इन्धणं जत्थ ॥

अर्थात्—जहां पर जिनेन्द्र देव का मंदिर हो, जहां पर समयोचित कार्य के करने वाले ज्ञानी साधु श्रावक हों। जहां पर अनेक जलाशय हों, जलाने के लिये लकड़ी मिले, वहां निरन्तर रहना चाहिए ।

यदि विविध गुणों से भरा भी हो, तो भी उस देश में न रहना चाहिए, जहां पर साधु महात्मा न रहते हों । अथवा उपप्लुयुत स्थान में, अर्थात् जहां पर दुर्भिक्ष, अकाल मृत्यु आदि अशुभ सूचक उत्पात होते रहते हों, वहां भी धार्मिक पुरुषों को न रहना चाहिए ।

उपप्लुत स्थान के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं कि जहां देव मूर्तियां कांपती हों, पहाड़ हिलता हों, देव-मूर्तियां हंसती हों और पसीजती हो, जहां कभी नदी का जल लहू के समान वहता हो, तथा वृक्षों से अकारण ही रुधिर के फेन आदि की वर्षा होती हो, जहां हाथ, पांव के बिना केवल मस्तक के रूप में स्त्री के बालक उत्पन्न हो, या चार कान और चार नेत्र वाला बालक उत्पन्न हो, जहां परचक्र के कारण असंख्य पशुओं की मृत्यु होती हो, वहीं दुष्काल आदि घोर दुख उत्पन्न होते हैं। इसीलिये उस स्थान को उपप्लुत का स्थान कहते हैं।

उपसंहार में जिज्ञासुओं को दृढ विश्वास कराने के लिए ग्रन्थकार एक श्लोक द्वारा फिर उसी उपदेश को करते है कि—

> उपद्रुतं वैरविरोधमारि—
> स्वचक्रमुख्यं नगरादि यत्स्यात्।
> न यत्र चैत्यं च सुसाधुयोगः
> न तत्र धीमान् विदधीत वासम्॥

अर्थात्—जो नगर आदि स्थान शत्रु-विरोध से, रोग से, स्वचक्र आदि से युक्त हो, और जहां देवता का मंदिर न हो, अच्छे साधुओं का सत्संग न हो, वहां पर बुद्धिमान न रहे।

दशम गुण समाप्त

ग्यारहवाँ गुण

निन्दित कामों में गृहस्थ की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

'अप्रवृत्तिश्च गर्हिते' देश, काल पात्र, और जाति, कुल आदि की अपेक्षा जो बुरे कर्म हैं उन्हें न करना चाहिए। निन्दित कर्म इस भांति गिनाये गये हैं कि—सौवीर देश में खेती लाटदेश मे मदिरा बनाना, ये देश-गर्हित कहे जाते हैं। ब्राह्मण का मदिरा पीना, तिल नोन, लाख, लोह आदि का व्यापार करना ये जाति-गत अपेक्षा कुत्सित कर्म है। चौलुक्य जाति का मद्यपान करना यह कुल की अपेक्षा दुष्कर्म है। विरक्त साधुओं का द्रव्य लेना यह पात्र-गत कुकर्म है।

सच्चे श्रावकों के लिए रात्रि-भोजन, अभक्ष्य-भक्षण आदि कर्म निन्दित है। और निंदित कर्म करने वालों के अच्छे कर्म भी हास्य-जनक हो जाते हैं कि--

> अनुचितकर्मारम्भः प्रकृतिविरोधो बलीयसा स्पर्द्धा।
> प्रमदाजनविश्वासो मृत्युद्वाराणि चत्वारि॥

अर्थात्--बुरे काम का आरम्भ करना, समय-स्वभाव से उलटा चलना, बलवान के साथ खेंचातानी, और स्त्रियों पर विश्वास करना ये चारों काम मृत्यु के द्वार हैं।

मुनि-वेष धारण करके हत्या, मिथ्या, चोरी, मैथुन आदि कामों में लीन रहना, बैलगाड़ी घोड़े आदि पर चढ़ना, दवा करना, मारण मोहन आदि मंत्र तंत्र के प्रयोगों को करना, ईर्षा अहंकार के वश होकर अपने धर्म कर्म को भूल जाना, गृहस्थों के झगड़ों में पड़ना, धन के लिए व्यग्र रहना, बड़े लोगों की झूंठी निन्दा करना, दूसरे के गुण को देख कर जलना, धर्मोपदेश करते समय विषय-वासना बढ़ाने वाली बातों का कहना, अन्यायी राजा की प्रशंसा करना, संसार को दुःख जाल में फँसाना आदि काम मुनियों के लिए अनुचित कामों का आरम्भ कहना चाहिए।

इसी प्रकार गृहस्थों को भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विचार करके अपनी शक्ति के अनुसार जिस कार्य में उचित आत्मलाभ हो उसी कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। एक ही कार्य काल के प्रभाव से कभी उचित और कभी अनुचित समझा जाता है इसलिए पहले आस पास के संयोगों को विचार कर कार्यारम्भ करना उचित है।

सारांश यह है कि गृहस्थ को धार्मिक राजा के विरुद्ध; देश के विरुद्ध, लोक विरुद्ध और धर्म विरुद्ध कार्य कदापि नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त गृहस्थों के लिए जो अनुचित कार्य हैं, उन्हें ग्रंथकार ने भिन्न भिन्न गुणों के प्रसंग में दर्शाया है, अतएव उन्हें यहां पर नहीं लिखा जाता। परन्तु यह निश्चित है कि

अनुचित कार्य का आरम्भ करने वाला मनुष्य मृत्यु के द्वार पर अवश्य पहुंचता है। इस लिए जिस कार्यके द्वारा आत्मोन्नति तथा परोन्नति हो और लौकिक पारलौकिक विडम्बना भी न सहनी पड़े, उसी कार्य का करना उचित है।

प्रकृति-विरोध का सारांश यह है कि जनता के स्वभाव विरुद्ध कार्य करना धार्मिक मनुष्य का काम नहीं, यद्यपि प्राणी मात्र में मनुष्य अधिक बुद्धिमान है, और वह बड़ी बुद्धिमत्ता से काम करता है, तो भी उससे भूल का होजाना स्वाभाविक है; क्योंकि अनादि काल से प्राणियों का कर्मों के साथ संबंध है, उस सम्बन्ध-संस्कार का दूर होना अति कठिन है। संसार की असारता को भली भांति जानने वाले श्रुतधर पूर्वधर के समान ज्ञानी पुरुष जो कि असार संसार से मुक्त होने के लिए अति तीव्र उपयोगों से धर्म-कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, प्रमाद-वश उन से भी भूल हो ही जाती है। फिर यदि अल्पज्ञों से भूल होजावे तो आश्चर्य क्या है? इसलिए किसी भी अवसर पर प्रजावर्ग का विरोधी न बनना चाहिए। नहीं तो वह प्रजावर्ग अवसर पाकर धनाहुति के सहित आत्म-बलि करने में नहीं चूक सकता, और जो राजा तथा राजपुरुषों के कान भर कर भूल करते हैं, उन्हें भी समूल नष्ट करने के लिए प्रजावर्ग अपनी शक्ति के अनुसार किसी प्रयत्न को उठा नहीं रखता।

अथवा प्रजा-समुदाय को दूर रखिए, किसी एक व्यक्ति के साथ भी विरोध रखना अनुचित है। महात्मा समरादित्य के जीवन चरित को पढ़ने से ज्ञात होता है कि विरोध करने की क्या परिणति होती है। उक्त महात्मा ने दो मनुष्यों में से जो परस्पर लड़ रहे थे, उनमें एक का पक्ष लेकर कितना कष्ट उठाया था ? उन के चरित से यही उपदेश मिलता है कि संसार में किसी के साथ भी विरोध करना, मृत्यु से प्रेम करने के तुल्य है।

"**वलीयसा स्पर्द्धा**" अपने से अधिक वलवान के साथ समानता रखने की इच्छा करना भी अनुचित है। ज्ञानी के साथ मूर्ख, धनी के साथ निर्धन, वली के साथ दुर्बल, समुदाय के साथ अकेला, स्वामी के साथ सेवक यदि वरावरी करें तो फल क्या होगा ? हार के साथ साथ दुःख और अप्रतिष्ठा, इनके अतिरिक्त क्या कुछ लाभ भी हो सकता है ? कदापि नहीं।

"**प्रमदाजन विश्वासः**" जो युवती-स्त्री अत्यन्त मद वाली है उसका विश्वास नहीं करना। उसके सतीत्व की रक्षा का भार अपने ऊपर भी पुरुष को लेना चाहिए। यदि प्रमादी पुरुष उसी पर भरोसा करके उदासीन रहेगा तो अवश्य मृत्यु के समान दुःख उठावेगा। इस वाक्य का यह अभिप्राय नहीं है कि स्त्रियों का किसी बात में कभी विश्वास ही नहीं करना। क्योंकि इतिहासों में सैकड़ों प्रमाण पड़े हुए हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि स्त्रियां

विश्वास के योग्य भी होती हैं। कितनी ही स्त्रियां बल में, बुद्धि में, विद्या में, विवेक में पुरुषों को भी शिक्षा देने वाली हो चुकी हैं। क्या सभी पुरुष विश्वास के योग्य हैं? क्या स्त्रियों में ही दुर्गुण होते हैं पुरुषों में नहीं? उपदेश सुनने में भी विवेक की आवश्यकता है। सुनिए—

पौरोहित्यं रजनिचरितं ग्रामणीत्वं नियोगो
माठापत्यं वितथवचनं साक्षिवादः परान्नम्।
धर्मद्वेषः खलजनरतिः प्राणिनां निर्दयत्वम्
माभूदेवं मम पशुपते जन्मजन्मान्तरेऽपि ॥

अर्थात्—पुरोहिताई, रात में घूमना, ग्रामका मुखियापन, अधिकार, मूर्ख पुत्र, झूठापन, गवाही का करना, दूसरे के अन्न से पेट का पालना, धर्मात्मासे द्रोह, खलों में प्रीति पर निर्दयता ये सब बातें हे महादेव! मुझे जन्म जन्मः भी न मिलें।

कुत्सित कर्म करने वाले पर कटाक्ष करते हुए किसी स्थल पर इस प्रकार कहा है कि—

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ,
लुब्धाल्लुब्धिनवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुंगं शिरः।

चक्षुः साधुविलोकनेन रहितं पादौ न तीर्थाध्वगौ,
भ्रातः कुक्कुर ! मुञ्चमुंच सहसा निंद्यस्य निन्द्यं वपुः ॥

अर्थात्—हे कुत्ते ! तू अपने शरीर को झट पट छोड़ दे, क्योंकि तेरा शरीर अत्यन्त निन्दनीय है। क्योंकि तेरे हाथ दान नहीं देते, तेरे कान शास्त्र नहीं सुनते, ठगी चोरी के पदार्थ से तेरा पेट भरता है, तेरे नेत्र साधुओं के दर्शन नहीं करते और तेरे पांव तीर्थ यात्रा ही करते हैं, फिर भी तेरा मस्तक अहंकार से ऊंचा है।

और भी सुनिए- —

अधिकारा त्रिभिर्मासैर्मठापत्या त्रिभि र्दिनैः ।
शीघ्रं नरकवांछा चेद्दिन मेकं पुरोहितः ॥
दश शूना समश्चक्री दशचक्रासमो ध्वजः ।
दशध्वजसमा वेश्या दशवेश्यासमो नृपः ॥

अर्थात्—नरक जाने की इच्छा हो तो तीन महीने अधिकारी ब[illegible] या तीन दिन किसी मठ का स्वामी बने, यदि अति शीघ्र न[illegible] जाना चाहे तो एक दिन पुरोहिती करे। दश वधिक के तुल्य [illegible] कुंभकार है, दश कुंभकार के तुल्य एक ध्वज (जाति विशेष), और दश ध्वज के समान एक वेश्या, तथा दश वेश्या के [illegible] एक राजा है।

"उज्जायिनी में एक ब्राह्मण था, वह जन्म ही का रोगी था इसलिए उसका नाम ही 'रोग' पड़ गया। सम्यक्त्व पूर्वक अणु व्रत आदि का शुद्ध रूप से पालन करने वाला वह श्रावक था। चिकित्सा के सब सामान सुलभ होने पर भी उसने रोग दुःख का सहना ही अच्छा समझा। उसका दृढ़ विचार इस प्रकार था कि—

पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्त्वयाऽयम्
न खलु भवति नाशः कर्मणां संचितानाम्।
इति सह गणयित्वा यद्यदायाति सम्यक्
सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्ते॥

अर्थात्—हे आत्मन्! तुझे फिर भी दुःख का यह परिणाम भोगना ही पड़ेगा, क्यों कि बिना भोगे संचित कर्मों का नाश नहीं होता, इस प्रकार विचार करके जो जो आपत्तियां तेरे सामने आवें उन्हें भली भांति सहन कर फिर तुझे दूसरी जगह (अन्य योनि में) कहां ऐसा सत् और असत् का विवेक मिलेगा? और भी कहा है—

अवश्य मेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटिशतै रपि॥

अर्थात्—चाहे शुभ कर्म या अशुभ कर्म हो उसे भोगना अवश्य पड़ेगा। क्यों कि बिना भोग किये हुए कर्म का नाश सौ करोड़ युग तक भी नहीं होता।

इस प्रकार रोग-दुःख सहने वाले उस रोग नामक ब्राह्मण की इन्द्र प्रशंसा करने लगे कि 'अहो यह रोग द्विज बड़ा दृढ़ निश्चयी आत्मबल-युक्त है कि इस प्रकार रोग दूर करने के अनेक उपाय रहते हुए भी उनकी उपेक्षा करके रोग-पीड़ा को सह रहा है।' उसके बाद इंद्र की इस बात का विश्वास न करके दो देव वैद्य बने और ब्राह्मण के समीप आकर बोले—

'हे रोग ब्राह्मण। हम तुम्हें नीरोग कर देंगे। परन्तु तुम्हें रात में मद्यमांस खाना पड़ेगा।' उनकी बात सुनकर सुरेश से भी बढ़ कर प्रतिष्ठित वह रोग ब्राह्मण मन-ही-मन विचारने लगा कि जब सामान्य कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य का प्रतिष्ठा-कारण संसार में अत्यन्त निन्दित कर्म का परित्याग ही है क्यों कि—

न कुलं वृत्तिहीनस्य प्रमाण मिति मे मतिः।
अन्त्येष्वपि प्रजातानां वृत्त मेव विशिष्यते ॥

अर्थात्—मेरी राय में नीच-कर्म करने वाला यदि उत्तम कुल में उत्पन्न भी हो तो भी वह नीच के समान है। और यदि कोई अन्त्यज भी हो कर अच्छे आचरण वाला हो तो उसे उच्च कहना चाहिए, क्यों कि आचरण में ही विशेषता है।

फिर मैं तो सर्वोत्तम विप्रकुल में उत्पन्न हूं और विशेष करके इस समय जिन-धर्म का अनुयायी हूं, तो फिर मैं निन्दित कर्म क्यों करूं? क्यों कि नीति भी कहती है कि—

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वास्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरण मस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अर्थात्—परम नीतिज्ञ पुरुष चाहे निन्दा करें या स्तुति, अपनी इच्छा के अनुसार लक्ष्मी आवे चाहे चली जावे, आजही मृत्यु हो या युगान्तर में हो, इन बातों की चिन्ता नहीं, परन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ से तनिक भी विचलित नहीं होते हैं।

ऐसा विचार करके वह रोग द्विज बोला—'हे वैद्यो! मैं उत्तमोत्तम दूसरी औषधियों का भी सेवन नहीं करना चाहता हूं। फिर जो औषधियां लोक में, शास्त्र में, सभी ठौर निन्दित हैं और धर्मात्मा जिन्हें छूते तक नहीं उनका सेवन क्यों करूं! सुनिए—

मद्ये मधुनि मांसे च नवनीते तथैवच।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः॥
सप्तग्रामेषु यत्पाप मग्निना भस्मसात्कृते।
तदेतज्जायते पापं मधुविन्दुप्रभक्षणात्॥

हरेक आत्मा को सुख का अनुभव क्षणिक होता है, वह उत्पन्न होकर नष्ट हुआ करता है। जैसे जब पुत्र उत्पन्न होता है तो उस समय बड़ा सुख होता है परन्तु पुत्र के रहते भी फिर वह सुख नहीं मिलता। एवं सुख किसी वस्तु विशेष में नहीं है, जिसको आत्मा जहां पर सुख मान ले उसे वहीं पर सुख है। जैसे किसी वेश्या को देख कर कामी पुरुष सुखी होता है। और विरक्त उद्विग्न होता है, सारांश यह कि सुख न किसी वस्तु में है न वह चिरस्थायी है। इस लिये उपाधियुक्त क्षणिक सुख में आसक्त होना अनुचित है। क्यों कि ऐसा सुख कालान्तर में दुःख-रूप हो जाता है। इस लिए पंडित लोग निरन्तर मिलने वाले अक्षय सुख की इच्छा रखते है। उस अवर्णनीय सुख को मोक्ष कहते हैं, वह इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह स्वभावतः आत्मा का स्वयं शुद्ध रूप है। विभव को छोड़ने पर आत्मा को क्षणिक रमणता प्राप्त होती है, और जीवन्मुक्त-दशा का सुखानुभव यहां भी होता है। इस लिए विभव और उपाधि जन्य सुखों का त्याग करके, कर्मों से ढके आत्मा के गुणों को प्रकट करने के लिए शास्त्रोक्त विधि से निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

इसके अनन्तर रोग ब्राह्मण ने पीड़ा का वृत्तान्त कहा—

आपदर्थे धनं रक्षे द्दारान् रक्षे द्धनै रपि ।
आत्मानं सततं रक्षे द्दारै रपि धनै रपि ॥

अर्थात्—आपत्काल के लिए धन रखना चाहिए, धन से स्त्रियों की रक्षा करे, और अपनी आत्मा की रक्षा स्त्रियों से भी और धन से भी करे।

विवेचन—धर्म की ही सहायता से धन मिलता है, परंतु धन के मिल जाने पर मनुष्य धर्म भूल कर अभिमानी हो जाता है। और दिनों दिन उसका लोभ बढ़ता जाता है, दुर्व्यसन में धन फूंकने लगता है, और निन्दित होकर दरिद्र हो जाता है, इसलिए शास्त्र चेतावनी देता है कि कुछ धन आपत्काल के लिये रख छोड़ना चाहिये।

स्त्री पर विपत्ति आवे तो उस समय धन का मुख नहीं देखना चाहिए। क्योंकि वह गृह की लक्ष्मी है, उसके सामने धन कोई चीज नहीं है। जहां स्त्रियों का अनादर होता है, उस घर में लक्ष्मी नहीं रहती। स्त्रियों का अश्रुपात वज्र-पात के समान है। उन्हें सदैव सब भांति प्रसन्न रखना चाहिये, क्योंकि स्त्रियं पुरुषों के आधीन हैं।

स्त्री और धन की सहायता से अपनी आत्मा की रक्षा करे, यदि अपने आपत्काल में धन-कलत्र काम नहीं आते हैं तो व्यर्थ है। क्योंकि पुरुष के सुरक्षित रहने से ही स्त्री-धन की रक्षा हो सकती है, और उनकी सत्ता रह सकती है। धन-कलत्र पुरुष के अधीन है, और पुरुष आत्मा के अधीन है, इस

आत्मा सर्वोत्तम है, उसकी रक्षा जैसे तैसे अवश्य होनी चाहिए। सारांश यह है कि धर्मात्मा का शरीर धन के तुल्य है, और आत्मा देह के तुल्य है। ऐसी अवस्था में देह पीड़ा को हटा कर आत्मा की रक्षा होनी चाहिए।

इस प्रकार उस रोग ब्राह्मण की प्रतिज्ञा में निश्चलता को देख कर उन दोनों देवों को बड़ा हर्ष हुआ। 'अहो, यह ब्राह्मण सात्विक पुरुषों में अग्रगण्य है। इसकी प्रशंसा इन्द्र ने सत्यही की थी। उसके पश्चात् उन देवों ने अपने रूप को प्रकट किया, उस ब्राह्मण की इन्द्र ने जो प्रशंसा की थी, उसको साद्यन्त संसार में ख्यात कर दिया। और उस ब्राह्मण के सब रोगों को दूर करके रत्नों से उसका घर भी भर दिया और अन्त में उस ब्राह्मण का नाम "आरोग्य द्विज" पड़ गया और समस्त पुरुषार्थो (धर्म,अर्थ, काम, मोक्ष) का साधक हुआ। वे दोनों देव अपने स्थानको चलेगए।

उक्त प्रकार से निन्दित कर्मों का परित्याग करने से देखा देखी दूसरे मनुष्यों में धर्म की स्थिरता होती है। संसार सागर से तर जाने का यश अपनी आत्मा को मिलता है। लोक में प्रतिष्ठा; सुख समृद्धि आदिक की प्राप्ति होती है। निन्दित कर्म का परित्याग तो करना ही चाहिये, परन्तु प्रशंसित कर्म भी उतना ही करना चाहिए, जिससे अन्त में सुख मिले, अत्यधिकता सर्वत्र वर्जित है।

कहा भी है—

मासैरष्टभिरह्नाच पूर्वेण वयसायुषा ।
तत्तरेण विधातव्यं यस्यान्ते सुखमेधते ॥
दिवसेनैव तत्कार्यं येन रात्रौ सुखी भवेत् ।
तत्कार्यं मष्टभिर्मासैः वर्षासु स्यात्सुखीयतः ॥
पूर्वे वयसि तत्कार्यं येन वृद्धः सुखी भवेत् ।
सर्ववयसा च तत्कार्यं येन प्रेत्य सुखी भवेत् ॥

अर्थात्—पहली ही अवस्था (युवावस्था)में मनुष्य को उचित है कि आठ महीनों के दिन में उस कार्य को करे जिससे कि अन्त में सुख मिले। दिन में ही उस कार्य को कर लेना चाहिये जिससे कि रात में सुख प्राप्त हो, और आठ महीनों में उस काम को करे जिससे वर्षा काल में सुख हो। जिस कार्य के करने से बुढ़ौती में सुख मिले; उसे युवावस्था में ही कर लेना चाहिए, और जन्म काल से लेकर मरण काल तक उस कार्य को करना चाहिए जिस के करने से परलोक में सुख हो।

विवेचन—मनुष्य को उचित है कि जिस काम को करना चाहे, पहले उसके परिणाम को विचार ले। क्योंकि विचार पूर्वक काम करने से सफलता प्राप्त होती है। विचारवान् के कार्य में न विघ्न पड़ता, न किसी से विरोध ही होता, सर्वदा सर्वत्र सुख-ही-सुख मिलता रहता है। अविचारी पुरुष के काम का परिणाम इस

के विपरीत ही होता है। जो मनुष्य अपनी शक्ति के बाहर काम करता है या जुआ, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, विश्वास घात, आदि को करने वाला है, वह सदा दुखी, चिन्तित और निन्दित होता है और जन्मान्तर में भी विविध यातना को सहता है।

ग्यारहवें गुण को समाप्त करते हुए ग्रन्थकार प्रसंग-वश धर्माधिकारी के लक्षण कहते हैं—

देशजातिकुलगर्हित कर्म-
रायादरा त्परिहरन् गृहमेधी।
आचरंश्च तदगर्हित मार्य-
धर्मकर्मणि भवेदधिकारी ॥

अर्थात्—अपने देश, अपनी जाति, और अपने कुल के विरुद्ध जो कुकर्म है, उसको सादर छोड़ता हुआ, और जिस कार्य को श्रेष्ठ पुरुषों ने अच्छा कहा है, उसको करता हुआ, गृहस्थ धर्म-कृत्य करने का अधिकारी होता है।

ग्यारहवाँ गुण समाप्त

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी
अंबाला शहर
की
नियमावलि ।

१-इसका मेम्बर हर एक हो सकता है।

२-फ़ीस मेम्बरी कम से कम २) वार्षिक है, अधिक देने का हरएक को अधिकार है। फ़ीस अगाऊ लीजाती है। जो महाशय एक साथ सोसायटी को ५०) देंगे, वह इसके लाईफ़ मेम्बर समझे जावेंगे। वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया जावेगा।

३-इस सोसायटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होता है। जो महाशय मेम्बर होंगे वे चाहे किसी महीने में मेम्बर बनें। चन्दा उनसे ता० १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक का लिया जावेगा।

४-जो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितर्ण कराना चाहें उनका नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जायगा।

५-जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हर एक मेम्बर के पास बिना मूल्य भेजे जाया करेंगे।

सेक्रेटरी

श्राद्ध गुण विवरण

सातवाँ भाग।

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

परमर्षि श्री जिन मण्डन गणि विरचित

श्राद्ध गुण विवरण

सातवाँ भाग

ट्रैक्ट नं० ७७

अनुवादक—

पं० रामचरितजी उपाध्याय

प्रकाशक—

मंत्री—श्री आत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर।

वीर संवत् २४५१ | प्रति ७५० | विक्रम संवत् १९८२
आत्म संवत् ३० | मूल्य =) | ईस्वी सन् १९२५

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्राद्ध गुण विवरण

सातवाँ भाग

पन्द्रहवाँ गुण

धर्माचरण करता हुआ, जो मनुष्य उन्नति और मोक्ष के कारण रूप धर्म को प्रति दिन सुनता है, वह अपने मन के दुःखादिक को दूर करता है। कहा है–

> क्लान्त मिहोज्झति खेदम्
> तप्तं निर्वाति बुध्यते खेदम्।
> स्थिरतामेति व्याकुल—
> मुपयुक्तसुभाषितं चेतः ॥

अर्थात्—लाभ पहुंचानेवाली कथा का सुनने वाला चित्त के दुःख को समझता है, समझ कर दुःख और थकावट का त्याग करता है, ताप को दूर करता है, और इस संसार में व्याकुल को स्थिर करता है।

सदा धर्म का श्रवण करना दिनोंदिन गुण प्राप्त करने के लिए मुख्य साधन है। श्रवण मात्र जो बुद्धि का गुण है, उससे इस गुण में भेद है। निरन्तर धर्म न सुनने से मणिकार सेठ की भांति मिला हुआ भी धर्म नष्ट हो जाता है। जैसे कि—

राजगृह में किसी समय महावीर स्वामी पधारे, उस समय वहां सौधर्म लोक का रहने वाला, दर्दुराङ्कदेव चार हजार सामानिक देवताओं से घिरा हुआ था। सूर्य के समान प्रकाश वाले महावीर स्वामी के सामने उसने बत्तीस प्रकार के नाटक किये, और उसके बाद वह अपने घर को चला गया। दर्दुरदेव के चले जाने पर गौतम जी ने महावीर स्वामी से पूछा कि हे भगवन्! दर्दुराङ्कदेव ने इतनी बड़ी संपत्ति किस पुण्य के प्रभाव से प्राप्त की? भगवान महावीर स्वामी ने उत्तर दिया कि इसी नगर में मणिकार सेठ से उसने ऋद्धि प्राप्त की। एक समय उस मणिकार ने मेरे मुख से धर्म सुना और बहुत दिनों तक धर्म का पालन भी किया। परन्तु उसी प्रकार का धर्मोपदेश करने वाले साधु के पास जाकर धर्म का श्रवण न करने से उसका धर्म पर से विश्वास जाता रहा।

एक बार उस मणिकार ने गर्मी के दिनों में अट्ठम (तेला) तप करके पौषध किया, तीसरे दिन रात में प्यास से व्याकुल ... आर्तध्यान में विचारने लगा कि वे पुरुष बड़े भाग्यवान

हैं जो बावली, कूप आदि को बनवाते हैं। इसलिए मैं भी सवेरा होते ही एक बावली बनवाऊंगा, ऐसा संकल्प करके प्रातःकाल उठा और पारणा किया, फिर श्रेणिक की आज्ञा से वैभार गिरि के निकट एक बावली बनवाई। और उसके चारों ओर बागीचा लगवाया, छेत्र (सदावर्त) बांटने के स्थान बनवाये, देवमन्दिर भी बनवाये। उसके बाद धर्महीन उस सेठ को सोलह रोग उत्पन्न हुए। वह सेठ उन्हीं रोगों से उस बावली का ध्यान करता हुआ मर गया।

मरण के समय जैसी मति रहती है वैसी ही गति होती है इसी कारण वह सेठ उसी बावली में मेंढक हुआ। किन्तु उस पानी को देखने से उसे पूर्व जन्म का ज्ञान होगया। उसने समझ लिया कि धर्म का परित्याग करने से ही मैं मेंढक हुआ हूं, इस लिए उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने अपने मनमें निश्चय किया कि मुझे छठ व्रत करना चाहिये। और पारण में बावली के किनारे की मिट्टी और मनुष्यों के स्नान किए हुए जल को खाना पीना चाहिये। इस प्रकार का निश्चय अपने मनमें उस मेंढक ने कर लिया।

"आज महावीर स्वामी पधारे हुए हैं, उनको वन्दना करने के लिए हम लोग जायंगे" ऐसी बात को लोगों के मुख से सुनकर वह मेंढक भी मेरी वन्दना करने को चला। रास्ते

में अधिक राजा के घोड़े की खुर से चोट खा कर मर गया और देव हुआ। इसके पश्चात् वह देव-शरीर से मोक्ष को प्राप्त करेगा। इसलिए धर्म-श्रवण न करने से जो परिणाम होता है, उसे जान कर नित्य धर्म का श्रवण करना चाहिए। क्योंकि—

परमागमसुस्सूसा,
अणुराओ धम्मसाहणे परमो।
जिणगुरुं वेया वच्चे,
नियमो समत्त लिंगाई॥

अर्थात्—परमागम के सुनने की इच्छा, धर्मसाधन में परम अनुराग, और जिन देव तथा गुरु के वैयावच्च करने का नियम ये तीनों सम्यक्त्व के चिन्ह हैं।

यहाँ पर द्वादशाङ्गीरूप सिद्धान्त को परमागम समझना। बिना परमागम के सुने, भली भांति विवेक आदि गुणों का समूह नहीं मिलता। श्री हरिभद्राचार्य ने कहा भी है—

क्षाराम्भस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदक योगतः।
बीजं प्ररोह मादत्ते तद्वत्तत्व श्रुतेर्नरः।
क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलो मतः।
मधुरोदक योगेन समा तत्त्व श्रुतिःस्मृता।

वोधाम्भः श्रोतस श्चैपा सिरा तुल्या सतां मता ।
अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थं मसिराव निकूपवत् ॥

अर्थात्—खारे जल के त्याग से और मीठे पानी के मिलने पर जैसे बीज अंकुरित होता है (जमता है) वैसे ही तत्त्व के सुनने से मनुष्य मिथ्यात्व को छोड़ कर सम्यक्त्व को ग्रहण करता है ।

यहाँ पर संसार के समस्त सम्बन्धों को खारे पानी के समान समझना चाहिए, और मीठे पानी के मिलाप के समान तत्वश्रुति को कहा गया है ।

यह श्रुति बोध रूपी जल–धारा की लहरी के समान सत्पुरुषों के मत से मानी गई है, इस श्रुति के अभाव में असिरा भूमि में कूंए की भाँति श्रुत ज्ञान व्यर्थ है ।

शुश्रूषा का लक्षण यह है—

तरुणो सुही वियड्ढो रागी वियपणइणी जुओ सोउं ।
इच्छइ जह सुरगीयं तओऽहिया समयसुस्सूसा ॥
अत्रोदाहरणं कार्यः सुष्ठु श्रेष्ठी सुदर्शनः ।
सुदर्शन गुणग्राम रंरमच्चित्त वृत्तिकः ॥

अर्थात्—सुख, अनुराग और निपुणता तथा सुन्दरी स्त्री से संयुक्त युवा पुरुष जैसे सुर-गीत को सुनने की इच्छा रखता है, उससे भी अधिक धर्म सुनने की इच्छा होनी चाहिए। अच्छे गुणों के समूह में अत्यन्त रमण करने वाला सुदर्शन सेठ का उदाहरण यहां पर देना चाहिए।

मगध देश में राजगृह नाम का नगर था, वहाँ का राजा श्रेणिक था, वह प्रजा के पालन में बड़ा तत्पर था। उस राजा के शुद्ध सम्यक्त्व पालन का दृष्टान्त तीनों लोक में विद्वान लोग दिया करते थे, जिससे दूसरों का भी ज्ञान बढ़े। वहीं अर्जुन नाम का एक माली भी रहता था, उस की स्त्री का नाम बन्धुमती था, उसका रूप बड़ा प्रशंसनीय था। वह माली उसी नगरके उद्यान में रहने वाले द्वार पाल के सहित मुद्गरपाणि नामक यक्ष का आदरपूर्वक फूलों से प्रति दिन पूजन किया करता था। कभी उसी नगर में रसिक नागरिक लोगों ने किसी महोत्सव को आरम्भ किया। सवेरे होने वाले उत्सव को विचार कर माली ने समझा कि मेरे फूल बड़े महँगे बिकेंगे, इसलिए स्त्री को साथ ले कर फुलवाड़ी में गया। विविध प्रकार के फूलों से अपने फूल रखने के डाले को भर कर उसी यक्ष के मंदिर में ठहरने के लिए सन्ध्या के समय पहुंच गया।

उस मंदिर के पास वहीं के रहने वाले कुछ दुराचारी पुरुष उस मालिन को देख कर मोहित हो गए, और आपस में सबों

ने सलाह की कि इस माली को बांध कर - इस मालिन के साथ हम लोग विषय भोग करेंगे इस विचार से वे सब उसी मंदिर में कहीं छिप रहे। उधर माली भी यक्ष के मंदिर में जाकर निःशंक हो कर एकाग्र चित्त से यक्ष की ज्यों ही पूजा करने लगा, त्यों ही उन दुष्टों ने निकल कर माली को बड़ी फुर्ती से बाँध दिया, और उसी के सामने उसकी स्त्री के साथ भोग करने लगे। जैसे मंत्र के वशीभूत साँप किसी को काट नहीं सकता, उसी प्रकार बंधा हुआ वह माली उस दुष्कृत्य को देखता रहा, क्रुद्ध होकर भी उन दुष्टों का कुछ भी न कर सका। कहा भी है—

पितृ घातादि दुःखानि सहन्ते बलिनोऽपिहि।
प्रियघर्षणजं दुःखे रंकोऽपिन तितिक्षते॥

अर्थात्–पिता आदि के मार डालने के दुःख को बलवान् भी सह सकते हैं, परन्तु अपनी प्रिया के अपमान-जनित दुःख को महादीन भी नहीं सह सकता।

तब वह माली अपने दुर्वाक्यों से उस यक्ष की निन्दा करने लगा कि " तू सचमुच पत्थर का ही यक्ष है, देवता नहीं है। क्योंकि तेरे देखते हुए तेरे मंदिरमें ही ये अधम पापी ऐसा दुष्कर्म कर रहे हैं कि जिसका कथन भी नहीं हो सकता। यदि तुझ में कोई उग्र तेज होता तो तेरे सम्मुख ऐसे अत्याचार को ये दुष्ट नहीं करते, तेरी पूजा अर्चा विडम्बना मात्र है।

इस प्रकार माली के वचन को सुनकर यक्ष भी क्रोध में, कांपता हुआ भयंकर हो गया, और उस माली के शरीर में प्रवेश करके उसने धागे की भांति उसके बन्धनों को तोड़ डाला, और लोहे के मुदर को उठा कर उन दुष्टों को चूर्ण कर डाला स्त्री को भी नहीं छोड़ा। उसी दिन से वह यक्ष क्रुद्ध होकर प्रतिदिन नगर के बाहर एक स्त्री सहित छै मनुष्यों को मारने लगा, क्योंकि उन दुष्टों की भी संख्या छः ही थी।

इस वृत्तांतको सुनकर राजा श्रेणिक ने मुनादी कराके अपने नगर निवासियों को इस प्रकार मना किया कि 'जब तक अर्जुन मालीके द्वारा एक स्त्री और छै पुरुष मारे जाते हैं, तबतक कोई भी किसी प्रकार नगर के बाहर न निकले। उसी अवसर में वहां पर जीव जन्तु की रक्षा करने वाले वर्धमान जिनेश्वर पधारे, यद्यपि सब लोगों ने जान लिया कि जिनेश्वर आए हुए हैं, तो भी माली के भय से कोई भी जिनेश्वर की बन्दना करने के लिए न जा सका।

उसी नगर में अहंकार-रहित दिव्य रूप वाला एक सुदर्शन नाम का सेठ रहता था, वह श्रीवर्धमान के वचनामृत के लिए लालायित था, इस लिए उसने जिन देव की बन्दना करने के लिए माता पिता से आज्ञा माँगी। माता पिता ने उत्तर दिया हेवत्स! यदि तू इस घड़ी जायगा तो रास्ते में तेरे लिये अर्जुन

माली के द्वारा बड़ा भयंकर उत्पात होगा । इस लिये तू आज यहीं से जिनेश्वरकी वन्दना कर, और पहले के सुने हुए भगवान के उपदेश को मनन कर । माता पिता के प्रति फिर सुदर्शन ने कहा, जगद्गुरु जिनेश्वर के यहां आने पर मैं इस समय भोजन भी नहीं कर सकता, और अर्जुन का किया हुआ किसी प्रकार का मेरे ऊपर उत्पात भी नहीं चलेगा, क्योंकि जिनेश्वर के ध्यान करने वालों का कभी भी विघ्न नहीं उपस्थित होते । ऐसा ही लिखा है—

उपसर्गाः क्षयं यान्ति छिद्यन्ते विघ्न वल्लयः ।
मनः प्रसन्नता मेति पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥
सव्वे ताह पसत्था सुमिणा सुउणा गहा य नक्खत्ता ।
तिहुयण मंगलनिलयं हियएण जिणं वहंतस्स ॥

अर्थात्–जिनेश्वर की पूजा करने से सब उपसर्ग नष्ट हो जाते हैं, विघ्न रूपी बेलें, टूट जाती हैं, और मन प्रसन्नता को प्राप्त होता है । जो मनुष्य तीनों लोक के मंगल स्थान जिनेश्वर को अपने हृदय में धारण करता है, उसके लिए सभी शकुन, सभी स्वप्न, ग्रह, नक्षत्र शुभ-दायक होते हैं ।

इस प्रकार कह कर शास्त्रोपदेश सुनने के लिए उत्कंठित वह सुदर्शन संसार के ऊपर दया-दृष्टि रखने वाले श्रीमहावीर को

वन्दना करने के लिए चला। वह सुदर्शन ज्योंही रास्ते में चला त्यों ही साक्षात् यमराज के समान क्रुद्ध अर्जुन मुग्दर ताने सुदर्शन के सामने आगया। इस प्रकार अर्जुन को आता हुआ देख कर सुदर्शन सेठ चलना छोड़ कर वहीं खड़ा होगया, और जिनेश्वर का ध्यान करने लगा। उस समय परमेष्ठी महामंत्र के जप से अत्यन्त तेज वाले और अत्यन्त धैर्यवाले उस सुदर्शन को मारने में यक्ष असमर्थ होगया उसका क्रोध जाता रहा और डर कर तुरंत माली का शरीर छोड़ कर अपने स्थान को चला गया।

ज्योंही माली के शरीर से यक्ष अलग हुआ त्योंही कटे हुए वृक्ष के समान वह माली भूमि पर गिर पड़ा, थोड़ी देर में सचेत होकर उसने अपने सामने सुदर्शन को देखा। देखकर माली ने सुदर्शन से पूछा 'तू कौन है, कहां जा रहा है?' माली के कानों में अमृत बहाने वाली बात सेठ ने कही, "मैं श्रमणोपासक हूं. श्री महावीर को वन्दना करने के लिए जा रहा हूं। यदि तेरी इच्छा हो तो तू भी मेरे साथ चल। माली भी साथ हो गया, दोनों बड़ी उत्सुकता के साथ जिनेश्वर की शरण में पहुंचे, भक्ति पूर्वक प्रणाम करके उपदेश सुनने लगे।

मानुष्यमार्ये विषयः सुकुल प्रसूतिः

मोहांन्धिते जगति संप्रति सिद्धि सौध--
मोपानपद्धति रियं सुकृतोपलभ्या ॥

अर्थात्--मोह रूप अन्धकार से घिरे हुए संसार में इस समय मनुष्य का शरीर, आर्यों का देश, अच्छे कुल में जन्म, श्रद्धालुता, गुरु के वाक्यों का सुनना, विवेक यह पुण्य से मिलने वाली स्वर्ग रूपी कोठे पर चढ़ने के लिए सीढ़ी है। अथवा--

तिक्कालं जिणवंदणं पइदिणं पूआ जहा सत्तिओ,
सज्झाओ गुरु वंदणं च विहिणा दाणं तहावस्सयं ।
सत्तीए वयपालणं तह तवो अप्पुव्वनाणज्जणं,
एसो सावयपुंगवाण भणिओ धम्मो जिणिंदागमे ॥

अर्थात्--यथाशक्ति त्रिकाल में जिनेश्वर की वन्दना, प्रति दिन उनकी पूजा, श्रद्धा पूर्वक गुरु वन्दना, विधिपूर्वक दान, प्रतिक्रमण, शक्ति के अनुसार व्रत का पालन, और तपस्या तथा अपूर्व ज्ञान का उपार्जन यह पवित्र श्रावक-धर्म जैन शास्त्र में कहा गया है।

इस प्रकार हर्ष के सहित जिनेश्वर के धर्मोपदेश को सुन कर सुदर्शन सेठ ने अपनी शक्ति के अनुसार-प्रेम भाव से अभिग्रहों को ग्रहण किया । जिनेश्वर की वन्दना कर लेने से

सोलहवां गुण

अजीर्ण होने पर अर्थात् पहिले का भोजन किया हुआ जब तक न पचे तब तक भोजन नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाला मनुष्य सदा नीरोग रहता है, और धर्म--कृत्य के योग्य होता है। पहिले किया हुआ भोजन न पचने पर दूसरा भोजन कर लेने से विविध रोग उत्पन्न होते हैं। अजीर्ण-रोग सब रोगों का कारण है। कहा भी है कि—

अजीर्णप्रभावा रोग इति।

अजीर्ण (अपच) से ही सम्पूर्ण रोग उत्पन्न होते हैं। और अजीर्ण रोग शरीर के चिन्हों से पहिचाना जाता है। उन सब चिन्हों का वर्णन इस प्रकार किया है——

मलवातयो विंगन्धो विड्भेदो गात्र गौरव मरूच्यम्।
अविशुद्धश्चोद्गारः षडजीर्णो व्यक्त लिङ्गानि ॥

अर्थात्—मल में और वायु में दुर्गंध हो, दस्त साफ न हो या पतला हो, देह भारी रहे, भोजन में [illegible], गला जलाती हुई खट्टी डकार आवे ये छै चिन्ह [illegible] हैं।

अपनी आत्मा को कृतकृत्य मानता हुआ, सुदर्शन शास्त्रोपदेश सुनकर वैराग्य के रंग से रंगा हुआ अपने घर पर आया। अर्जुन-माली ने भी अरिहन्त के अमृतोपम उपदेश को सुन कर श्रीमहावीर स्वामी से अति शीघ्र दीक्षा ग्रहण कर ली। परीषहों को सहते हुए माली ने इस भांति अभिग्रह को ग्रहण किया कि "नीच जाति होने पर भी मुझे छठ-तपस्या निरन्तर करनी चाहिए, और संलेखना में तत्पर होकर उसने आठ महीनों तक व्रत का पालन किया, उसके पश्चात् कर्म-क्षय हो जाने से सुखों के स्थान मोक्ष को प्राप्त किया।

सुदर्शन सेठ भी निर्मल और प्रशंसित श्राद्ध-धर्म की आराधना करके और देवताओं के सुखों को भोग कर क्रमशः कर्म-क्षय होने पर मोक्ष पायेगा।

इत्यागमश्रवणसादरमानसस्य,
वृत्तं निशम्य वणिजोऽस्य सुदर्शनस्य।
संसारवारिनिधितारणनौनिभाग्यम्,
धर्मश्रुतौ कुरुत भव्यजनाः प्रयत्नम् ॥

अर्थात्--इस प्रकार सादर मन से शास्त्रोपदेश को श्रवण करने वाले इस सुदर्शन सेठ के वृत्तांत को सुन कर के हे भाग्यवानो! संसाररूपी सागर को तारने में नौका के तुल्य धर्म-श्रवण में प्रयत्न करो।

सोलहवां गुण

अजीर्ण होने पर अर्थात् पहिले का भोजन किया हुआ जब तक न पचे तब तक भोजन नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाला मनुष्य सदा नीरोग रहता है, और धर्म-कृत्य के योग्य होता है। पहिले किया हुआ भोजन न पचने पर दूसरा भोजन कर लेने से विविध रोग उत्पन्न होते हैं। अजीर्ण-रोग सब रोगों का कारण है। कहा भी है कि—

अजीर्णप्रभावा रोग इति।

अजीर्ण (अपच) से ही सम्पूर्ण रोग उत्पन्न होते हैं। और अजीर्ण रोग शरीर के चिन्हों से पहिचाना जाता है। उन सब चिन्हों का वर्णन इस प्रकार किया है—

मलवातयो विंगन्धो विड्भेदो गात्र गौरव मरूच्यम्।
अविशुद्धरचोद्गारः षडजीर्णो व्यक्त लिङ्गानि ॥

अर्थात्—मल में और वायु में दुर्गंध हो, दस्त साफ न हो या पतला हो, देह भारी रहे, भोजन में रुचि न हो, गला जलाती हुई खट्टी डकार आवे ये छै चिन्ह अजीर्ण के

अजीर्णे पुनराहारो गृह्यमाणः प्रकोपयेत् ।
वात पित्त तथा श्लेष्मदोष माशु शरीरिणः ॥

अर्थात्---पहला भोजन न पचा हो तो भी दोबारा भोजन लेने से मनुष्य के शरीर में शीघ्र ही कफ, वात, पित्त इन तीनों दोषों का कोप होता है।

रोगोत्पत्तिः किलमजीर्णात् तच्चतुर्धापुनः स्मृतम्।
रसशेषामविष्टब्धविपक्वादित्रिभेदतः ॥

अर्थात्---अजीर्ण (अपच) से निश्चय ही रोग उत्पन्न होता है, वह रोग की उत्पत्ति चार प्रकार की है। १ रस शेष-रसका ठीक ठीक उपयोग न होना, २ आम-मुक्त-पदार्थ का कच्चा रह जाना, ३ अविष्टब्ध-कड़ा पड़ जाना, ४ विपक्व-पाकाशय में अधिक भोज्य पदार्थ होने से या जल के अभाव से जलभुन जाना।

रसशेषे भवेज्जृम्भा समुद्गार स्तथामके ।
अंगभंगश्च विष्टब्धे धूमोद्गारो विपक्वतः ॥

अर्थात् --रस शेष रह जाने पर जंमाई आती है, कच्चा रह जाने पर बहुत डकार आती है, विष्टब्ध होने पर देह टूटती रहती है और विपक्व होने पर जली हुई डकार आती है।

इसी प्रकार अजीर्ण के उपलक्षण से रोग आदि की उत्पत्ति में स्वजन, देव, गुरु आदि के उपसर्ग में, और देव गुरु की वन्दना के अभाव में विचारवान पुरुषों को भोजन नहीं करना चाहिए। कहा है कि—

देवसाधुपुर स्स्वामि स्वजन व्यसनेसति ।
ग्रहणे च न भोक्तव्यं सत्यां शक्तौ विवेकिना ॥

अर्थात्—देवता, साधु, नगर के स्वामी, और अपने कुटुम्ब इन सबों के ऊपर कष्ट पड़ने पर तथा चंद्रग्रहण और सूर्य ग्रहण के लगने पर, भोजन करने की शक्ति रहते हुए भी बुद्धिमानों को भोजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार शास्त्र भी कहता है—

अहव न जमिज्जरोगे,
मोहुदये सयणमाइ उवसग्गे ।
पाणिदया तवहेउं,
अंते तणुमोयणत्थंच ॥

अर्थात्—रोग में, मोह के उत्पन्न होने के समय और स्वजनों के ऊपर दुःख पड़ने पर, प्राणियों की दया के लिए और तपस्या के लिए और अन्त समय में शरीर छोड़ने के लिए भोजन नहीं करना चाहिए।

और इसी भांति विशेष पर्वों के दिन जैसे श्री संप्रतिराजा, श्री कुमारपाल आदि श्रावक भोजन नहीं करते थे वैसे ही सब श्रावकों को नहीं करना चाहिए।

विशेष कारणे रेव मभोजनपरायणः।
सदारोग्य गुणोल्लासी धर्म योग्यो गृहीभवेत्॥

अर्थात्—कभी कभी विशेष कारण पड़ जाने से, भोजन न करने वाला मनुष्य सदा नीरोग-गुण से सुखी रहता है, और धर्म के योग्य होता है।

सत्तरहवां गुण।

अन्न, फल आदि खाकर जीने वाले मनुष्य को उचित है कि भूख लगने पर समय के साथ अपने पाचनशक्ति के अनुसार हितकारी (स्निग्ध-मधुर) स्वल्प भोजन करता रहे। क्योंकि—

कंठनाड़ी मतिक्रांतं सर्वं तदशनं समम्।
क्षणमात्र सुख स्यार्थे लौल्यं कुर्वन्ति नोबुधाः॥

अर्थात्—जब तक मुख में ख़ाने की वस्तु रहती है, तभी तक अलग अलग स्वाद मिलता है, गले के नीचे उतर जाने पर

सभी भोजन समान होजाते हैं, इसलिए समझदार लोग क्षणमात्र सुख के लिए लालच नहीं करते हैं। और भी—

जिह्वे प्रमाणं जानीहि भोजने वचने तथा।
अतिभुक्त मतिचोक्तं प्राणिनां मरणप्रदम्॥

अर्थात्—अरी जीभ! भोजन करने के तथा बोलनेके प्रमाण को समझ लेना, अत्यधिक खाना और बहुत बोलना प्राणियों की मृत्यु का कारण होता है।

अधिक भोजन करना बुरा है। क्योंकि अधिक खाने से वमन विरेचन कय दस्त होने लगते हैं, और मृत्यु भी प्रायः हो जाती है। जो थोड़ा खाता है वह धीरे धीरे अधिक भोजन करने लगता अर्थात् उसकी पाचन-शक्ति बढ़ती जाती है। बिना भूख लगने पर उत्तम भोजन करना भी विष के तुल्य होता है। और भूख मर जाने पर भोजन करने से अन्न में अरुचि होती है। यही नहीं, शरीर का स्वास्थ्य भी बिगड़ जाता है। आग के बुझ जाने पर लकड़ी क्यों जलेगी? अर्थात् पाचन-शक्ति मन्द पड़ जाने पर हलका भोजन भी नहीं पच सकता।

पानाहारादयो यस्याविरुद्धाः प्रकृतेरपि।
सुखित्वायावकल्पन्ते तत्सात्म्य मिति गीयते॥

अर्थात्--खाने पीने चाटने की वस्तुयें जिस की प्रकृति के अनुकूल हों, वे ही चीजें सुख की देने वाली होती हैं, और उन्हीं का नाम सात्म्य है अर्थात् अपने अनुकूल है।

इस प्रकार सात्म्य लक्षण से यह बात सिद्ध हुई कि जो पदार्थ जन्म ही से अपनी प्रकृति के अनुकूल है, वह यदि विष भी हो तो भी उसके खाने से लाभ ही होता है। अत्यन्त प्रतिकूल भी यदि पथ्य हो तो भी उसका सेवन करना, और अनुकूलता को प्राप्त भी अपथ्य का सेवन नहीं करना चाहिये।

"सर्वं बलवतः पथ्यम्" बलवान मनुष्य के लिए सभी वस्तुयें पथ्य हैं, ऐसा विचार कर हलाहल नहीं खा लेना चाहिये। विषके प्रभाव को जानने वाला "विषतंत्रज्ञ" लिखा पढ़ा भी विष के खानेसे मर सकता है, ऐसी संभावना करनी चाहिए। इसी प्रकार अजीर्ण होने से भोजन का त्याग न करने से और असात्म्य भोजन करने पर प्रायः सदा रोगोत्पत्ति से घबड़ाये हुए और निरंतर आर्तध्यान में तत्पर मनुष्य को कैसे धर्म की योग्यता हो सकती है? इसलिए गृहस्थ को चाहिये कि पूर्वोक्त विधि से रहे। भोजन करने की विधि इस प्रकार है---

पितृमातृशिशूनांच गर्भिणी वृद्धरोगिणाम्।
प्रथमं भोजनं दत्वा स्वयं भोक्तव्यमुत्तमैः॥

चतुष्पदानां सर्वेषां भृतानां च तथा नृणाम् ।
चिन्तां विधाय धर्मज्ञः स्वयं भुञ्जीत नान्यथा ॥

अर्थात्--धर्मज्ञ पुरुष को चाहिये कि माता पिता को, छोटे छोटे लड़कों को, गर्भवाली स्त्री को, वृद्धों को, रोगियों को पहले भोजन करा कर तब स्वयं भोजन करे।

अपने पाले हुए सब पशुओं का और अपने नौकर चाकरों का पहले प्रबन्ध करके तब स्वयं भोजन करे, और यदि वे सब भूखे रहें तो स्वयं भी भोजन न करे।

उसी प्रकार सुखद समय में भोजन करना चाहिए, कुसमय में नहीं, अर्थात् अत्यन्त सवेरे के समय, सन्ध्या के समय और रात में भोजन करना सब शास्त्रों में निषिद्ध है क्योंकि ऊपर कहे हुए समयों में भोजन करने से बड़ा दोष और पाप होता है। कहा भी है—

चत्वारो नरक द्वारा प्रथमं रात्रिभोजनम्।
परस्त्रीगमनं चैव सन्धानानन्त कायिके ॥

अर्थात्—१-रात में खाना, २-पर स्त्री के साथ विषय करना और ३-सड़ा हुआ अचार तथा ४-अनन्तकाय का भक्षण करना ये नरक के फाटक हैं।

हे युधिष्ठिर ! इस संसार में रात्रि के समय जो समझदार गृहस्थ हैं उन्हें पानी भी न पीना चाहिए, विशेष करके जो तपस्वी और विवेकी हैं उन्हें तो अवश्य ही रात में जल न पीना चाहिए। जो बुद्धिमान निरंतर रात में भोजन नहीं करते उन्हें एक महीने में पंद्रह दिनों के उपवास का फल होता है। इस संसार में वह कौनसा समय है जिसमें कि भोजन नहीं किया जाता है ? परंतु कुसमय का परित्याग करके अच्छे समय में जो भोजन करे वही धर्मज्ञ है। जो भाग्यवान पुरुष रात में नहीं खाता, वह अपने सौ वर्ष के जीवन का आधा अर्थात पचास वर्ष उपवास करने का फल प्राप्त करता है। जो मनुष्य एक घड़ी या आधी घड़ी व्रत करता है, वह भी स्वर्ग को जाता है, और जो चार पहर व्रत करता है उसका क्या कहना ? वह तो अवश्य ही स्वर्ग जायगा। क्योंकि देहधारियों का जीवन अनेक विघ्नों और दुःखों से व्याप्त है जब भाग्योदय होता है तो किसी प्रकार मनुष्य रात में भोजन करना छोड़ता है। तथा—

अह्नो मुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिकेत्यजन्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥

अर्थात्–रात में भोजन करने के दोष को जाननेवाला मनुष्य सवेरे और सन्ध्या-समय में दो दो घड़ियों को छोड़ देता

है अर्थात् दोघड़ी दिन चढ़ने पर और दो घड़ी दिन रहते भोजन करता है वह पुण्य-भागी होता है। सांसारिक दोष इस प्रकार के हैं—

भोजन के साथ यदि चींटी खाई जावे तो बुद्धि नष्ट होती है जूं खाई जाने से जलोदर रोग होता है, मक्खी खाई जाने से उलटी (वमन) होती है, और कोलिक [कीट विशेष] खाए जाने से कुष्ट रोग उत्पन्न होता है। कांटा और तिनका खा जाने से गले में पीड़ा होती है, और भोजन के साथ बीछी घोंट जाने से वह तालू में डंक मारती है। और बाल गले में चला गया तो बोलना बंद हो जाता है; ये सब दृष्टि-दोष रात में भोजन करने से होते हैं। रात में भोजन करते हुए अगणित जीवों के भक्षण करने वाले मनुष्य राक्षसों से बढ़कर क्यों नहीं हैं?

रात्रिका भोजन अगणित-जीव जन्तुओंके विनाशका कारण है और महापापों का मूल-कारण है; इसलिए रातमें कदापि भोजन नहीं करना चाहिए। विवेक विलास ग्रंथ में भी कहा है।

बहुत सवेरे, संध्या के समय और रात में तथा अन्नकी निंदा करते हुए और दाहिने पैर पर हाथ रख कर भोजन नहीं करना। आकाश की ओर देखता हुआ, धूप में बैठकर और अंधेरे में तथा वृक्ष के नीचे बैठ कर और तर्जनी अंगुली को ऊपर उठा कदापि भोजन न करे। विना हाथ पैर और मुख के धोये तथा

नंगा होकर और मलीन वस्त्र पहिन कर एवं दाहिने हाथ में भोजन-पात्र लेकर भोजन नहीं करना चाहिए। एक ही कपड़ा केवल धोती और गीला कपड़ा मस्तक पर बांध करके और अपवित्रता की अवस्था में भोजन नहीं करना चाहिए। जूते को पहिन कर धवड़ा कर आसन के बिना पृथ्वी पर बैठकर और चारपाई पर तथा दक्षिण मुख होकर भोजन न करे।

छोटे आसन पर बैठकर, पैरों के बल बैठकर, पतित और चंडाल तथा डोमड़ों के देखते हुए और फूटे एवं मलिन पात्र में भोजन नहीं करना, अज्ञात् स्थान से आए हुए बिना जाने भोज्य पदार्थों को, दोबारा गरम किए पदार्थ को और जो बासी होजाने से बजबजा गया हो उस पदार्थ को नहीं खाना और मुंह को टेढ़ा मेढ़ा बना कर के भोजन न करना चाहिए।

ग्रंथकार पहले भोजन के लिए जो निषिद्ध विधि है उसको लिख कर अब भोजन के उत्तम प्रकार को लिखते हैं।

प्रेम-पूर्वक बुलाने पर, देवता को ध्यान से भोज्य पदार्थ को अर्पण कर लेने पर, सम-भूमि के ऊपर आसन पर बैठकर, माता, बहिन, मासी या भार्या के बनाये हुए भोजन को, पवित्र आत्मीयों से परोसे हुए भोजन को, भाई बंधु और परिजनों के भोजन कर लेने पर स्वयं भोजन करे। इस संसार में अपने पेट को तो सभी

भर लेते हैं परंतु जो पुरुष दूसरों के पेटों को भरता हुआ अपने पेट को भरता है, उसी पुरुष को पुरुष कहना चाहिए। इसलिए भोजन के समय बंधु-बांधव आजांय तो उन्हें पहले भोजन कराना चाहिए। सुपात्रों को श्रद्धा-पूर्वक बुलाकर दान देने के बाद जो स्वयं भोजन करता है वह मनुष्य धन्य है। केवल अपना पेट भरने वाले नराधम से क्या लाभ ? अतिथि याचक, दीन-दुखी को अपनी भक्ति, शक्ति और कृपा से उन्हें कृतार्थ करके तब बुद्धिमानों को भोजन करना चाहिए। सन्यासी ब्रह्मचारी यदि भिक्षा की याचना करें तो उन्हें अवश्य भिक्षा देनी चाहिए।

एक ग्रास को भिक्षा, चार ग्रास को अग्र, और चार अग्र को हन्तकार द्विजोत्तमों ने कहा है, हन्तकार और भोजन पर्यायवाचक हैं। अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि, विद्वान, भाईबन्द तथा मंगन का सत्कार करके उन्हें भोजन या भिक्षा दे करके तब भोजन करना उचित है। मौन होकर, सीधे बैठकर, दाहिने स्वर चलते समय, सूंघे हुए दोष से और दृष्टि-दोष से रहित भोजन को करे। बुरे स्वाद और स्वाद-रहित तथा शास्त्रों में जो आहार निषिद्ध हैं उन्हें छोड़ कर चुप चाप भोजन करे। स्निग्ध मधुर रसयुक्त भोजन करना चाहिए. भोजन के बीच बीच में थोड़ा खट्टा भी खाना चाहिए। जूठे हाथ से गालों को या दूसरे हाथ को या नेत्रों को स्पर्श न करे, किन्तु

कल्याण के लिए दोनों जानु को स्पर्श करे क्योंकि ऐसा कहा भी है–

> मा करेण करं पार्थ । मागण्डौ माच चक्षुषी ।
> जानुनी स्पृश राजेन्द्र, भर्तव्या बहवो यदि ॥
> विधिनैवं विशुद्धात्मा विदधानः सुभोजनम् ।
> गृहिधर्मोर्हतामात्म न्यारोपयति सत्तमः ॥

अर्थात्––हे पार्थ ! यदि तुम्हें बहुतों का भरण-पोषण करना है तो (जूठे हाथ से) हाथ से हाथ को और गालों को तथा नेत्रों को न छूना, परन्तु दोनों जानुओं का स्पर्श करना।

इस विधि से शुद्धान्तःकरण वाला मनुष्य भोजन करता हुआ अपनी आत्मा में गृहस्थ के धर्म को आरोपण करता है।

सत्तरहवाँ गुण समाप्त।

अट्ठारहवाँ गुण।

धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को "त्रिवर्ग" कहते हैं। जिससे उन्नति हो, और मोक्ष की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं। जिससे सब प्रकार के प्रयोजन सिद्ध हों, उसे अर्थ कहते हैं।

जिससे अहंकार के रस से पगी हुई पंच कर्मेन्द्रिय और पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन इन ग्यारहों में प्रीति हो उसे काम कहते हैं। परन्तु आपस में एक दूसरे का बाधक या घातक न हो तो उसे त्रिवर्ग कहिए और उसीका साधन करना चाहिए, यह न समझना कि केवल धर्म या केवल अर्थ या केवल काम के साधन से कुछ लाभ है। ऐसा ही कहा भी है—

> यस्य त्रिवर्ग शून्यस्य दिनान्यायान्ति यान्ति च।
> स लोहकारमस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥

अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग से रहित जिस मनुष्य के दिन व्यर्थ बीतते हैं, वह लोहार की भाथी [धोंकनी] की भांति साँस लेता हुआ भी मृतक है। धर्म और अर्थ को नष्ट करके केवल काम-सुख का जो लोभी है वह बनैले हाथी की भांति क्यों नहीं आपत्तियों को झेलेगा? ब्रह्मदत्त आदि की तरह उसका भी धन न रहता, न धर्म रहता और न शरीर ही रहता है, जो काम के अत्यन्त वशीभूत है। धर्म और काम का परित्याग करके जो धन पैदा किया जाता है वह दूसरों के काम आता है, पैदा करने वाला तो हाथी मारने वाले सिंह की भाँति केवल पाप का भागी होता है। अथवा मम्मण आदि की तरह उसे जानना चाहिए। अर्थ काम का परित्याग करके धर्म की सेवा केवल यति कर सकते हैं, गृहस्थ नहीं। बीज के लिये

त्रिवर्गसंसाधन मन्तरेण,
यशोरिवायु र्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति,
न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ ॥

अर्थात्—जिसने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को नहीं सिद्ध किया, उसका जीवन पशु के समान व्यर्थ है, उस त्रिवर्ग में धर्म को सर्वोत्तम कहते हैं, क्योंकि धर्म के विना अर्थ और काम की प्राप्ति नहीं होती।

धनदो धनार्थिनां धर्मः कामदः सर्वकामिनाम्।
धर्म एवापवर्गस्य पारंपर्येण साधकः ॥

अर्थात्—धन चाहने वालों के लिए धर्म धन देने वाला है, और सम्पूर्ण कामियों के लिए धर्म काम का देने वाला है; इसी प्रकार परंपरा से मोक्ष का साधक भी धर्म ही है।

अन्योन्यावाधया शुद्धोपधयाऽऽराधयन् सुधीः।
त्रिवर्गं क्रमतः स्वर्गापवर्गं सुखभाग् भवेत् ॥

अर्थात्-बुद्धिमान शुद्ध परीक्षा पूर्वक परस्पर विरुद्ध वाधाओं से रहित त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का साधन करता हुआ क्रम से स्वर्ग और मोक्ष के सुख का भागी होता है।

॥ इति ॥

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी
अंबाला शहर
की

नियमावली।

१-इसका मेम्बर हर एक हो सकता है।

२-फ़ीस मेम्बरी कम से कम २) वार्षिक है, अधिक देने का हरएक को अधिकार है। फ़ीस अगाऊ लीजाती है। जो महाशय एक साथ सोसायटी को ५०) देंगे, वह इसके लाइफ़ मेम्बर समझे जावेंगे। वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया जावेगा।

३-इस सोसायटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होता है। जो महाशय मेम्बर होंगे वे चाहे किसी महीने में मेम्बर बनें; चन्दा उनसे ता० १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक का लिया जावेगा।

४-जो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितर्ण कराना चाहें उनका नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जायगा।

५-जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हर एक मेम्बर के पास बिना मूल्य भेजे जाया करेंगे।

सेक्रेटरी।

श्राद्ध गुण विवरण

आठवां भाग।

पं० रामचरित उपाध्याय,
बा० कृष्णलाल वर्मा।

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

परमर्षि श्री जिन मण्डन गणि विरचित

श्राद्ध गुण विवरण

(आठवां भाग।

ट्रैक्ट नं० ८२

अनुवादक—

पं० रामचरितजी उपाध्याय,

बाबू कृष्णलालजी वर्मा।

प्रकाशक—

मंत्री—श्री आत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी,

अंबाला शहर।

वीर संवत् २४५२ } प्रति ८०० { विक्रम संवत् १९८३
आत्म संवत् ३१ } मूल्य =) { ईस्वी सन् १९२६

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्राद्ध गुण विवरण

आठवां भाग

उन्नीसवां गुण

अतिथि सेवा ।

इस उन्नीसवें गुण में अतिथि-सेवा का विधान लिखते हैं। अतिथि उसे कहते हैं जो निरन्तर अति निर्मल और एक सी विधि पूर्वक क्रिया करता हो और (इसीलिए) जिसके लिए (धर्म क्रिया करने के हेतु) तिथि आदि का विभाग (नियम) न हो। कहा भी है कि—

> तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना।
> अतिथि तं [illegible] विदुः ॥१॥

अर्थात्–जिन महात्माओं ने संपूर्ण तिथि पर्व और उत्सवों का परित्याग कर दिया है उन्हीं को अतिथि समझना और शेष दूसरों को अभ्यागत जानना चाहिए।

भावार्थ–सोने, चांदी का और धन धान्य का जिन महात्माओं को लोभ नहीं होता उन्हें अतिथि जानना चाहिए।

जिनकी सम्पूर्ण संसार प्रशंसा करता है और जो शिष्टाचार में तत्पर रहते हैं, वे साधु कहलाते हैं। धर्म, अर्थ और कामके सेवन की शक्ति जिसमें नहीं होती उसे दीन कहते हैं। अतिथि साधु और दीन पुरुषों को जो मनुष्य लाभदायक शिक्षा देता है, योग्य समय पर (निर्दोष) अन्न-जल देता है और औचित्य का उल्लंघन न कर जो उनका गौरव करता है वह धर्म का अधिकारी होता है। औचित्य के लिए कहा है कि—

औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटि रेकतः।
विषायते गुणग्राम, औचित्यं परिवर्जितः॥

अर्थात्–करोड़ों गुणों के तुल्य केवल एक औचित्य है, क्योंकि औचित्य (उचितता) के बिना गुण समूह विष के तुल्य हो जाता है। और भी कहा है—

आदेयत्वमसंस्तुतेऽपि हि जने विस्तारयत्यंजसा,
दुर्वृत्तानपि सान्त्वयत्यभिमुखानाभूतमायान् पापोधतान्।

तं संवर्गयति त्रिवर्गमिह चामुत्रापि तस्माच्छुभम्
किंवा तन्न करोति यत्सुकृतिनामौचित्यचिन्तामणिः॥

अर्थात्–औचित्य रूपी चिन्तामणि पुण्यवान पुरुषों के लिए क्या नहीं करता है। (अर्थात् सभी कुछ कर सकता है।) वह अपरिचित अयोग्य जनों में भी शीघ्र अपने पैर को फैला सकता है, वह दुष्टों को और नाश करने पर तुले हुओं को भी शान्त करता है, उन्हें अच्छे पथ पर ला सकता है) चाहे वह राजाही क्यों न हो, और वह धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की प्राप्ति कराता है, जिससे इस लोकमें तथा परलोक में कल्याण होता है।

अपने ऊपर अनुग्रह के लिए उसमें भी मुख्यतया सर्व विरति ग्रहण करने वाले मुनि अतिथि कहलाते हैं। इसलिए, पुण्यानुबंधी पुण्य की प्राप्ति के लिये और कर्म क्षय के लिए, प्रशंसा की इच्छा न रखने वाले विवेकी श्रद्धालुओं को उचित है कि वे ऐसे अतिथियों की सेवा सदा किया करें। इसी के लिए श्रावक सामाचारी में कहा है कि—

"जहां पर साधुओं का आगमन होता हो, जिनेश्वर का मन्दिर हो, और जहां पर बुद्धिमान सहधर्मी लोग रहते हों, वहीं पर श्रावक जन को रहना चाहिये।"

इसमें प्रातःकाल में जब तक जिनेश्वर देव और साधुओं को विधिवत् वन्दना न करलें, तब तक श्रावक को जल भी नहीं पीना चाहिये।

दो पहर के समय भी जिनेन्द्र और साधुओं को वन्दना करके तब भोजन करना चाहिये, इसी तरह सन्ध्या के समय भी जिनेश्वर भगवान और साधुओं के दर्शन करके सोना चाहिये।

भोजन के समय दान का फल उत्तम कहा गया है, इसलिये भक्ति पूर्ण अन्तःकरण और आनंद से पुलकित शरीर वाला श्रावक उपाश्रय में जावे, विधि पूर्वक मुनिपति-आचार्यको वंदना करे, और महान् संवेग से पुलकित गात होकर उन्हें आहार पानी का लाभ देने की विनती करे और मुनि जब गोचरीके लिये आवें तब उन्हें निर्दोष आहार पानी वहरावे अर्थात् उन्हें अन्न-जल का दान करे।' दूसरे स्थान में भी कहा है कि:—

"अपने घर पर सुपात्र अतिथि के आने पर, विशुद्ध श्रद्धापूर्वक जिसने शुद्ध दान नहीं दिया, उस मनुष्य का कल्याण किस होगा?"

कर्मों को विनाश करने के हेतु दान सुपात्रों को—मुनियों को अवश्य दिया करें।

इस तरह सूत्र में बताई हुई विधि के द्वारा मोक्ष के हेतु दान देना चाहिये। और अनुकम्पा (दया) रूपी दान तो सबको देना चाहिये, उसके लिये तीर्थंकरों ने कहा निषेध नहीं किया है।

व्यापार का फल धन है और धन का फल सुपात्र को दान देना है। यदि दान नहीं दिया जो व्यापार और धन दोनों ही दुर्गति के कारण होते हैं।

बाह्य और नाशमान द्रव्य, सुपात्र को देने से यदि नित्य और अन्तरंग धर्म की प्राप्ति कराता है तो फिर क्या चाहिये?

जो देव और गुरु का भाग निकाल कर और दीन दुखियों को तथा अपने बन्धुवर्ग को देकर भोजन करता है, उसी का भोजन तो भोजन है, बाकी केवल पेट का भरना है।" कहा भी है—

अर्हद्भ्यः प्रथम निवेद्य सकलं सत्साधुवर्गाय च।
प्राप्ताप प्रविभागतः सुविधना दत्वा यथा शक्तितः॥
देशायात सधर्म चारिभिरलं सार्द्धं च काले यथा।
भुञ्जीतेति सुभोजनं गृहवतां पुण्यं जिनै र्भाषितम्॥

अर्थात्—पाहिले समग्र भोज्य-पदार्थों को तीर्थंकरों को अर्पण करे, फिर आये हुये साधुओं को विधिवत् यथाशक्ति

दान दे। तब आये हुये देश विदेश के जो सहधर्मी हैं उनके साथ स्वयं भोजन करे, इस प्रकार के भोजन-को जिनेश्वरों ने गृहस्थों के लिये पुण्य-भोजन कहा है।

यह अतिथि दान थोड़ा भी दिया हुआ शीघ्र ही बहुत फलदायक होता है। सुनिये--

किसी स्थान में बड़ा दानी वाला भद्र परिणामी सुधन नामका एक सेठ था। सेठ के समान ही स्वभाव वाली उसकी स्त्री "धन श्री" भी थी। एक समय उन दोनों ने किसी जैन मुनि से निम्नलिखित उपदेश सुना—

देवभक्त्या गुरूपास्त्या सर्वसत्त्वानुकम्पया।
सत्संगत्याऽऽगमश्रुत्वा गृहतां जन्मनः फलम्॥
सद्दानभूषणा लक्ष्मीर्विधाविरति भूषणा।
धर्मैकभूषणा मूर्तिर्वाणी सत्यैक भूषणा॥

अर्थात्—देव भक्ति से, गुरु की उपासना से, समस्त प्राणियों पर दया करने से, सत्पुरुषों के संग से और सिद्धान्त के सुनने से अपने जन्म को सफल करो।

लक्ष्मी का आभूषण है सुपात्र को दान देना, विद्या का भूषण है विरति, केवल धर्म को धारण करना शरीर का आभूषण है, और जीभ का आभूषण सत्य बोलना है।

वसुधाऽऽभरणं पुरुषाः
पुरुषाभरणं प्रधानतरलक्ष्मीः ।
लक्ष्म्याभरणं दानम्
दानाभरणं सुपात्रं च ॥

अर्थात्–पृथ्वी के आभूषण पुरुष हैं, पुरुषों का आभूषण लक्ष्मी है, लक्ष्मी का आभूषण दान है और दान का आभूषण सुपात्र है।

सभी दानों में अन्न का दान सबसे बड़ा है, क्योंकि तीर्थंकर भी अन्नदाता के हाथ को अपने हाथ के ऊपर कर लेते हैं, इसलिये सुपात्र में दिया हुआ दान बहुत फलदायक होता है।

अन्यत्र दर्शनों में भी लिखा है कि हे राजन्! अन्न के दान से बढ़ कर दूसरा दान नहीं है, क्योंकि अन्न से ही चर, अचर और यह समूचा संसार धारण किया जाता है।

हे राजन्! सभी जीवों के प्राण अन्न में है, इसलिये अन्नदाता को विद्वानों ने प्राणदाता कहा है।

स्वर्ग लोक से गिरते हुए केशरिध्वज राजा पर करुणा करके वैवस्वत राजा बोला कि, हे राजन्! यदि तू कर्म भूमि में जाकर फिर दूसरी बार स्वर्ग में आने की इच्छा करता है तो

पृथ्वी पर जाकर अन्न का दान देना, अन्न का दान देना, अन्न का दान देना।

मुनि से उक्त प्रकार के धर्मोपदेश को सुन करके सुधन सेठ ने श्रावक के बारह व्रतों को अंगीकार किया, एवं जिनदेव की त्रिकाल पूजा, एकान्तरोपवास, अतिथि को देकर तब पारण करना, इत्यादि नियमों को ग्रहण किया।

इसके बाद घर पर आकर उस श्रेष्ठी ने अपनी स्त्री से धर्म ग्रहणका वृत्तान्त कह सुनाया। इस प्रकार उन दोनोंको पुण्य करते हुये कुछ समय बीता। उसके बाद क्रम से अन्तराय कर्म का उदय आया; पहले का कमाया हुआ धन घट गया और दरिद्रता आगई।

एक दिन स्त्री ने अपने पति से कहा कि—मेरे पिता के घर बहुत धन है, तुम वहां से धन लाकर के व्यापार करो। लेकिन संसार में उपहास होने के कारण और लज्जा के कारण वह वनिक सुसराल जाना नहीं चाहता था परन्तु स्त्री के प्रति दिन कहने से घबड़ा कर वह सुसराल को चला, और रास्ते में खाने के लिये उसने सत्तू ले लिये।

रास्ते में एक उपवास हो गया, दूसरे दिन दो पहर बिता कर तीसरे पहर में पहिले मासोपवासी साधु को सत्तू देकर तब स्वयं पारण किया, तीसरे दिन फिर भी उसने उपवास किया

और चौथे दिन सुसराल पहुंच गया। सुसराल वालों ने सत्कार तो किया लेकिन धन कुछ भी न दिया क्योंकि निर्धन का अनादर होता ही है, और उससे धन लौटने की कोई आशा भी नहीं रहती इसलिये निर्धन का कोई भी आदर नहीं करता है। इसी लिये कहा है–

धनमर्जय काकुस्थ, धन मूलमिदं जगत्।
अन्तरं नैव पश्यामि, निर्धनस्य मृतस्य च॥

अर्थात्–हे काकुस्थ! द्रव्य का उपार्जन कर, यह संसार धनमूल है, निर्धन और मृतक में कुछ भी भेद नहीं प्रतीत होता है। और भी कहा है कि–

जाई विज्जा रूवं तिन्निवि निवडंतु कंदरे विवरे।
अत्थुच्चिय परिवुड्ढउ जेण गुणा पायडा हुंति॥

अर्थात्–जाति, विद्या और रूप ये तीनों कंदरा, बिल में जा गिरें केवल अर्थ की वृद्धि हो, जिससे कि गुण प्रकट होते हैं।

अन्त में सुधन निराश होकर अपने घर को लौटा, अपने ग्राम के निकट में नदी के किनारे आकर विचारने लगा कि मुझे स्त्री ने बड़ी आशा के साथ भेजा था, मुझे खाली हाथ देखकर वह बड़ी दुखी होगी। इस विचार से उसने नदी के चमकीले गोल गोल पत्थर के टुकड़ों की गठरी बांध ली, और उठा कर

घर पहुंचा। गठरी को देखकर स्त्री ने समझा कि मेरा स्वामी बहुत धन लेकर आया है। स्त्री ने सहर्ष गठरी को घर में रख लिया।

सत्पात्रों को दान देकर भोजन करने के नियम से प्रसन्न होकर शासन देवी ने श्रेष्ठी के उन सभी पत्थरों को रत्न बना दिया। उनमें से एक रत्न को बेचकर सेठ की स्त्री ने भोजनादि के सामान लिये। और उन रत्नों से वह वनिक् फिर भी नामी व्यापारी हो गया। इसलोक में भी सत्पात्र दान के माहात्म्य को देखकर वह सर्वदा अतिथि सेवा में तत्पर हो गया।

तथा सभी अच्छे लोग, माने हुए सज्जन और माता पिता भाई आदि भी सम्मति से साधु कहे जाते हैं, इसलिए उनके साथ भी यथोचित व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य ने कितने ही गुण क्यों न प्राप्त किये हों, परन्तु यदि वह उत्तम आचरण करना नहीं जानता तो कदापि उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती, इसलिए उचित आचरण करना चाहिए।

उचित आचरण से क्या होता है? यदि कोई ऐसी शंका करे तो उसके लिए कहा है कि—मनुष्यत्व के समान होने पर भी कई मनुष्य अपनी कीर्ति को प्रकट करते हैं। यह कीर्ति-प्रकाश निस्सन्देह उचित आचरण 'ही का माहात्म्य है'। वह उचितता नौ प्रकार की होती है। यथा—

तं पुण १ पिय २ माइ ३ सहोयरेसु,
४ पणईणि ५ अवच्च ६ सयणेसु।
७ गुरुजण ८ नायर ९ परतित्थिएसु पुरिसेण कायव्वं॥५॥

अर्थात्-वह उचित आचरण १ माता, २ पिता, ३ सहोदर, ४ भार्या, ५ सन्तान, ६ स्वजन, ७ गुरुजन, ८ नागरिक और दूसरे दर्शनीय इनके साथ पुरुष को सदा उचित बर्ताव करना चाहिये।

माता के साथ क्या उचित आचरण करना चाहिए प्रथम उसे सुनिये। धर्म संबंधी देवपूजा, गुरुकी सुश्रूषा, धर्म का श्रवण, विरति, तथा आवश्यक प्रतिक्रमण का अंगीकार, सात क्षेत्रों में द्रव्यका व्यय, और तीर्थ-यात्रा आदि माताके धर्म सम्बन्धी मनोरथों को सादर सोत्साह पूर्ण करावें। अब पिता के साथ उचित आचरण को कहते हैं। जैसे सेवक स्वामी की सेवा करता है वैसे ही पुत्र स्वयं अपने पिता की सेवा करे। पिता की आज्ञा बिना विचारे मानले, पैर धोना, शरीर का मर्दन करना, और उठाना बैठाना आदि अथवा देश काल आदि के अनुकूल शारीरिक सुख के लिए योग्यतानुसार भोजन, शय्या, वस्त्र, और केशर, चंदन, कस्तूरी आदि विलेपन के लिए दे। पिता के शरीर की सेवा प्रीतिपूर्वक उत्कृष्ट विनय के साथ करें। दूसरों के आग्रह के कारण या अविज्ञा से कभी न करें और न नौकरों से ही

करावे। यह पिता के शरीर के प्रति उचित आचरण की बात हुई। पिता जो कुछ बात कहें उसको स्वीकार करना चाहिए। उसकी अविज्ञा नहीं करना चाहिए; यह वचन संबंधी उचित आचरण हुआ। अब मन संबंधी औचित्य को कहते हैं। सर्वदा सर्व प्रकार के प्रयत्नों से, सभी कार्य पिता की इच्छा के अनुसार करना, बुद्धि के गुणों का निर्वाह करना नियम के सद्भाव को प्रकाशित करना, पिता से पूछकर सब कामों को करना जिस काम को पिता मना करदे उसे कदापि न करना, कार्य में भूल होने से पिता यदि कठोर वचन भी कह दें तो उन्हें विनय पूर्वक सह लेना, पिता के साथ अविनय न करना और पिता के धार्मिक मनोरथों के विशेष रूप से परिपूर्ण करना इत्यादि।

सारांश यह है कि इस लोक में हरिषेण महापद्म चक्रवर्ती की भांति अपने माता पिता के विषय में गुरुवत् उचित आचरण करना उत्तम पुत्र का कर्तव्य है। यद्यपि माता पिता का उपकार अपने ऊपर इतना भारी है कि उसका बदला देना अति कठिन है, तथापि पिता का पुत्र यदि अर्हत् धर्म में, दया धर्म में, अच्छी तरह लगादे तो यह कहा जा सकता है कि उसने कुछ बदला चुका दिया, उपकार-भार से कुछ हलका हुआ।

अब सगे भाई के सम्बन्ध में उचित आचरण का वर्णन करते हैं कि भाई चाहे छोटा हो या बड़ा हो उसे अपनी आत्मा से

भिन्न नहीं समझना चाहिये। भाई से कपट व्यवहार कदापि नहीं करना, अपना स्पष्ट अभिप्राय उसे बताना उसका स्पष्ट अभिप्राय पूछना उसे व्यावहारिक काम में लगाना और थोड़ा भी द्रव्य भाई से छिपा कर नहीं रखना।

उपर्युक्त बातें योग्य भाई के लिये कही गई हैं। अब अयोग्य भाई के विषय में कहते हैं कि अविनीत भाई के प्रतिकूल काम न करना चाहिये उसके मित्रों के द्वारा उसे समझा बुझा कर अच्छे रास्ते पर लाना चाहिये। या स्वजन वर्ग से किसी बहाने उस शिक्षा दिलवानी चाहिये हृदय में स्नेह रहते भी ऊपर से कुपित की भांति चेष्टा बनाये रहना चाहिये। जब तक वह सन्मार्ग पर न आवे तब तक स्नेह प्रकट न करना चाहिये, परन्तु उसके पुत्र कलत्रादि के भरण पोषण में त्रुटि नहीं करना चाहिये। सत्पुरुषों का यही उचित आचरण है।

अपनी स्त्री के साथ उचित आचरण किस तरह करना चाहिये अब उसे बतलाते हैं। स्नेह वचनों से उसको सम्मानित करके अपने सन्मुख करना। और उसको सेवा सुश्रूषा में प्रवृत कराना, तथा उसे अपनी योग्यता के अनुसार गहने कपड़े देना। जहां लोगों की अधिक भीड़भाड़ हो वहां खेल तमाशे में जाने से रोकना। दुष्ट पाखण्डियों के संसर्ग से बचा कर सदा उसको गृह कार्य में लगाये रखना। रात के समय में घर

से बाहिर नहीं जाने देना। हां, दि माता या बहिन या अच्छे शीलवाली चाल चलन वाली स्त्री के साथ देव-दर्शन या प्रतिक्रमण आदि धर्म-कार्य के लिए वह जाय तो कुछ चिन्ता नहीं। दान देना, स्वजनों का सत्कार करना और भोजनादि की व्यवस्था करना आदि में उसे लगाये रखना चाहिए। स्त्री को उदास न होने देना चाहिये। उसे गृह कार्य का अधिकार देना चाहिये। जिस घर में स्त्री दुखी रहती है तो वह घर ही दुखी हो जाता है। स्त्री को अपमानजनक शब्दों में सम्बोधन न करना। यदि भूल हुई हो तो समझाना, उचित सजा भी देना। रूठ जाय तो मनाना। द्रव्य की हानि वृद्धि या और कोई गुप्त बात उसे नहीं बताना चाहिये। श्रेष्ठकुल की, प्रौढ़ वयवाली, निष्कपट, धर्म में तत्पर रहने वाली और समान धर्म-वाली ऐसी स्वजनों की स्त्रियों के साथ प्रीति कराना। कुलीन स्त्रियों का संग नीच स्त्रियों से न होने देना चाहिये नहीं तो अपवाद होता है। स्त्री के दुख में और पर्वोत्सवादि में पूरी सहायता करनी चाहिए।

अब पुत्र सम्बन्धी उचित आचरण का कथन करते हैं। अर्थात् पुत्र के साथ पिता का उचित आचरण यह है कि बाल्यावस्था में उसका लालन पालन करना, जब बुद्धि के गुण प्रकट हों तब पुत्र को क्रमशः निपुण बनाना। सर्वदा देव,

गुरु, धर्म, मित्र और स्वजन वर्ग से परिचय कराना और सत्पुरुषों से मित्रता कराना।

गुरु यानी धर्माचार्य, यथार्थ स्वरूपवाले देव तथा धर्म, प्रिय और हितोपदेश देने वाले मित्र और स्वजन इन लोगों के साथ प्रेम भाव कराना चाहिए। ऐसा करने से पुत्र के मन में उन लोगों के प्रति पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है। इसलिए पुत्र के साथ उचित आचरण करनेवाले पिताको देव, गुरु और स्वजनों से परिचय कराना उचित है। तथा कुल जाति और आचरणोंसे उत्तम जो लोग हों पिता उन से पुत्रकी मित्रता करा दें। ऐसा करने से यानी उत्तम पुरुषों की मित्रतासे यदि धन की प्राप्ति नहीं होती है तो भी पुत्र अनर्थों से तो जरूर बच जाता है। सामान कुल में उत्पन्न गुणवती सुशीला कन्या के साथ विवाह करा देना चाहिए। गुण में, रूप में, जाति में, अवस्था में और स्वभाव में वर कन्या दोनों की समानता न होने से स्त्री पुरुष दोनों का जीवन दुःख मय होजाता है।

खरीद फ़रोख्त और आय व्यय का बोझा उठाने की योग्यतानुसार उसे घरके काम में मुकर्रिर करे। ऐसा करने से उसमें स्वाधीनता पूर्वक कार्य करने की शक्ति का विकास होता है। जवानी के उन्माद से दूर रहता है और उचित व्यय करता है। फिर जब उसके अहंकारादि दोष नष्ट प्रायः होजांय तब पिता

उसे गृहका स्वामी बना दे । इस से उसे कभी समान वय और आय आदिवाले लोगों में नीचा न देखना पड़े ।

पुत्र के सामने ही उसकी प्रशंसा नहीं करना चाहिए। दुर्व्यसनों द्वारा जो लोग नष्ट हुए हों उनकी करुण कथा पुत्र को सुनानी चाहिए और आय व्यय और बचत का हिसाब भी देखते रहना चाहिये ।

अपने पूर्वके पुण्योदय से अपने समान गुणवाला या अपने से अधिक गुणवाला जो पुत्र मिला है, उसकी प्रशंसा उसके सामने न करनी चाहिए। व्यसनों से जो मनुष्य बिगड़े हों उन के नाश की कथा, उनकी निर्धनता उनका तिरस्कार उन की उताड़ना और उनकी दुर्दशा का वर्णन अपने पुत्रको भली प्रकार सुनाना व समझाना चाहिए जिस से वह कभी दुर्व्यसनों में न फंसे। आमद खर्च और बचत की जांच करते रहने से वह कभी बुरे मार्ग पर नहीं चलता है। उसका राजसभा में प्रवेश कराना और देश देशांतरो की स्थितिसे उसको वाकिफ कराना चाहिए। यह पिता का पुत्र के प्रति उचित आचरण है ।

अब स्वजन-संबंधियों के साथ में कैसा उचित आचरण चाहिये सो बताते हैं ।

घर की उन्नति के कार्यों में हमेशा स्वजनों का सम्मान इसी तरह हानि के कार्यों में भी उन्हें निकट रखना

माता, पिता और पत्नी के संबंध से जो अपने स्वजन हों, उनका पुत्र जन्मोत्सव के समय, नाम संस्करण के समय और विवाह के समय एवं इसी प्रकार के अन्य घर की वृद्धि के कामों में भोजन, वस्त्र और ताम्बूलादि शुभ वस्तुओं से सत्कार करना चाहिये। इसी प्रकार अपने घर में मृत्यु होगई हो उस समय तथा और हानिजनक कार्यों में उनको साथ रखना चाहिये। और उनकी सम्मति से कार्य करना चाहिये। स्वजनों की वृद्धि और हानि के कार्य में हमेशा शामिल होना चाहिये, निर्धन और रोगों से पीड़ित स्वजनों की सहायता करनी चाहिये पीठ पीछे उनकी निंदा नहीं करनी चाहिये, उनकी चुगली नहीं करनी चाहिये, उनके शत्रुओंसे दोस्ती नहीं करनी चाहिये और उनके मित्रोंसे हित करना चाहिये। वे घर में न हों तब उनके घर में न जाना चाहिए। आपस में लेन-देन न करना चाहिये और गुरु, देव तथा धर्म सम्बंधी कार्मों में उनके साथ एक चित्त होना चाहिए इत्यादि बातें करना स्वजन सम्बंधी उचित आचरण है।

अब धर्माचार्य सम्बंधी उचित आचरण बताते हैं:—

धर्माचार्यों की भक्ति और बहुमान पूर्वक त्रिकाल वंदना करनी चाहिये। उनकी बताई हुई नीति से आवश्यकादि कार्य करने चाहियें, और शुद्धश्रद्धा से उनसे धर्मोपदेश सुनना

उसे गृहका स्वामी बना दे। इस से उसे कभी समान वय और आय आदिवाले लोगों में नीचा न देखना पड़े।

पुत्र के सामने ही उसकी प्रशंसा नहीं करना चाहिए। दुर्व्यसनों द्वारा जो लोग नष्ट हुए हों उनकी करुण कथा पुत्र को सुनानी चाहिए और आय व्यय और बचत का हिसाब भी देखते रहना चाहिये।

अपने पूर्वके पुण्योदय से अपने समान गुणवाला या अपने से अधिक गुणवाला जो पुत्र मिला है, उसकी प्रशंसा उसके सामने न करनी चाहिए। व्यसनों से जो मनुष्य बिगड़े हों उन के नाश की कथा, उनकी निर्धनता उनका तिरस्कार उन को उत्ताड़ना और उनकी दुर्दशा का वर्णन अपने पुत्रको भली प्रकार सुनाना व समझाना चाहिए जिस से वह कभी दुर्व्यसनों में न फंसे। आमद खर्च और बचत की जांच करते रहने से वह कभी बुरे मार्ग पर नहीं चलता है। उसका राजसभा में प्रवेश कराना और देश देशांतरों की स्थितिसे उसको वाकिफ कराना चाहिए। यह पिता का पुत्र के प्रति उचित आचरण है।

अब स्वजन-संबंधियों के साथ में कैसा उचित आचरण करना चाहिये सो बताते हैं।

अपने घर की उन्नति के कार्यों में हमेशा स्वजनों का सम्मान करना चाहिये। इसी तरह हानि के कार्यों में भी उन्हें निकट रखना चाहिये।

माता, पिता और पत्नी के संबंध से जो अपने स्वजन हों, उनका पुत्र जन्मोत्सव के समय, नाम संस्करण के समय और विवाह के समय एवं इसी प्रकार के अन्य घर की वृद्धि के कामों में भोजन, वस्त्र और ताम्बूलादि शुभ वस्तुओं से सत्कार करना चाहिये। इसी प्रकार अपने घर में मृत्यु होगई हो उस समय तथा और हानिजनक कार्यों में उनको साथ रखना चाहिये। और उनकी सम्मति से कार्य करना चाहिये। स्वजनों की वृद्धि और हानि के कार्य में हमेशा शामिल होना चाहिये, निर्धन और रोगों से पीड़ित स्वजनों की सहायता करनी चाहिये पीठ पीछे उनकी निंदा नहीं करनी चाहिये, उनकी चुगली नहीं करनी चाहिये, उनके शत्रुओंसे दोस्ती नहीं करनी चाहिये और उनके मित्रोंसे हित करना चाहिये। वे घर में न हों तब उनके घर में न जाना चाहिए। आपस में लेन-देन न करना चाहिये और गुरु, देव तथा धर्म सम्बंधी कामों में उनके साथ एक चित्त होना चाहिए इत्यादि बातें करना स्वजन सम्बंधी उचित आचरण है।

अब धर्माचार्य सम्बंधी उचित आचरण बताते हैं :—

धर्माचार्यों को भक्ति और बहुमान पूर्वक त्रिकाल बंदना करनी चाहिये। उनकी बताई हुई नीति से आवश्यकादि कार्य करने चाहियें, और शुद्धश्रद्धा से उनसे धर्मोपदेश सुनना

चाहिये। उनके आदेश का सदा आदर करना चाहिए। मनुष्य कभी उनकी बुराई का विचार तक न करे। अगर कोई करता हो तो उसे रोके और हमेशा उनके गुणों का प्रकाश करे। उनके छिद्र न देखे। उनके सुख दुःख में मित्र की तरह प्रवृति करे और उनके विरोधियों को हर तरह के प्रयत्न से दूर करे। धर्म-कार्य में स्खलित होते हुए भी धर्माचार्य यदि धर्म की कोई बात कहें तो उसे मान्य करें। प्रमाद से स्खलित होते हुए धर्माचार्य को, एकान्त में उनका प्रमाद बताने और उस प्रमाद से दूर होने की प्रेरणा करे। समय के अनुसार उनका भक्ति से सब तरह का विनयोपचार कर धर्माचार्य के गुणानुराग को अत्यंत निष्कपट भाव से अपने हृदय में धारण करे। यदि धर्माचार्य देशांतरों में हों तो भी उनके भावोपचार को हमेशा याद करे। इत्यादि धर्माचार्य सम्बंधी उचित आचरण कहा।

अब नागरिक शब्दकी उत्पत्ति और तत्सम्बन्धी उचित आचरण बताते हैं। जिस नगर में मनुष्य बसता है, उसमें समान वृत्ति वाले जो लोग रहते हैं, वे सभी नागरिक कहलाते हैं। (श्रावक प्रायः व्यापार ही अधिकतर करने वाले हैं इसलिए) जो व्यापार वृत्ति से गुजरान् चलाता हो वही समान-वृत्ति वाला होता है।

नागरिकका उचित आचरण यह है कि —उसके नागरिकों

के साथ हमेशा एक सी चित्तवृत्ति रक्खे, उनके सुख दुःखमें शामिल हो, महोत्सवों में उनके साथ मिले। यदि नागरिक समान भाव वाले और हिल मिल कर रहने वाले नहीं होते हैं तो राज्य और राज्याधिकारियों द्वारा उनके हैरान होने की संभावना रहती है। सामुदायिक कामों में कभी राजा के पास अकेले नहीं जाना चाहिए। एकान्त में जो सलाह सम्मति हो उसे प्रकट नहीं करना चाहिए और न कभी किसी की चुगली ही खाना चाहिए।

महत्ता की अभिलाषा से, जिस समुदाय के व्यक्ति, जुदा जुदा जाकर, राजा से या राज्याधिकारियों से मिलते हैं वह समुदाय नष्ट हो जाता है और व्यक्ति विद्वेष और अविश्वास का पात्र बन जाता है। जिस समुदाय में अनेक नेता होते हैं वह समुदाय अवश्यमेव दुखी होता है इसके लिये कहा है कि—

सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे पण्डित मानिनः।
सर्वे महत्त्व मिच्छन्ति, तद्वृन्द मवसीदति ॥६॥

अर्थ—जिस समुदाय में सभी नायक हों, सभी अपने को पंडित मानने वाले हों और सभी महत्ता को चाहने वाले हों वह समुदाय दुखी होता है अर्थात् नष्ट होजाता है।

गुप्त परामर्श को प्रकट नहीं करना चाहिये, चुगली नहीं खाना चाहिए और रिशवत भी नहीं देना चाहिये। यदि दो पक्षों

में तकरार हो तो अपने आप को तराजूकी तरह मध्यस्थ भाव रखना चाहिये। रिश्वत लेकर न्याय पक्षको कदापि नहीं छोड़ना चाहिए। कर आदि बढ़ा कर बलवान निर्बलों को कभी न सतावें। थोड़े से अपराध के लिए भी कचहरी में ले जाकर गरीबों को दंड न दिलावे। थोड़ासा अपराध होने पर भी कर बढ़ाने से अथवा न्यायासन के सामने ले जाकर दंड दिलाने से आपस में विरोध बढ़ता है। आपसी विरोध से समुदाय का नाश अवश्यंभावी है। इसलिये नागरिकों को विचार-पूर्वक ऐसी प्रवृत्ति करना चाहिये जिससे समुदाय में फूट न फैले। एकता सुरक्षित रहे और भविष्य में पश्चात्ताप करने का समय न आवे। कहा है कि—

संहतिः श्रेयसी पुंसा, स्वपक्षेतु विशेषतः।
तुषैरपि परि भ्रष्टा, न प्ररोहन्ति तन्दुलाः ॥७॥

अर्थ—पुरुषों का एकता रूपी समुदाय ही कल्याणकारी है। अपने पक्ष में तो वह विशेषरूप से श्रेयस्कर (अच्छा) है। छिलकों से निकले हुये चावल जैसे अंकुरित नहीं होते, नहीं उगते, वैसेही समुदाय से अलग पड़ा हुआ मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता है।

जिन्हें अपने आत्म-कल्याण की, अपने हितकी इच्छा हो उन्हें चाहिये, कि वे कभी राजाके, देवके और धर्मके

अधिकारी लोगों से एवं उनके आश्रित तथा उनके जरिये से आजीविका करने वाले लोगों से भी कभी द्रव्य व्यवहार न करे। यानी उन्हें कभी उधार न दे। कारण जब वे उधार लेकर जाते हैं उस समय तो बड़ी लच्छेदार बातों से वे कृतज्ञता प्रकट करते हैं; मगर जब उनसे वापिस पैसे मांगे जाते हैं तब ये आंखें बदलते हैं; अपने किये हुये किसी तुच्छ से काम का स्मरण दिलाते हैं और असभ्य व्यवहार तक कर बैठते हैं। अधिकारीवर्ग को कर्ज देने से अपना धन तो जाता ही है साथही उनके साथ दुश्मनी भी हो जाती है। इसलिये अधिकारियों के साथ व्यवहार करने में पूरी सावधानी रखनी चाहिए, जिससे भविष्य में पश्चात्ताप करने का समय न आवे। कहा है कि:—

अपने स्वामी-मालिक के साथ तो कभी भी लेन-देन नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनकी सत्ता में रह कर द्रव्य का वापिस मिलना तो दूर रहा अपने जान माल तक जोखम में आ-पड़ते हैं। इसलिए नागरिकों को द्रव्य व्यवहार में विचारपूर्वक कार्य करना चाहिए।

नागरिकता के उचित आचरण का वर्णन कर अब परतीर्थी से संबंध रखनेवाले आचरणों का वर्णन किया जाता है।

परतीर्थी—बौद्ध, वैष्णव और शैव हैं। इनमें से हरेक के चार चार भेद होते हैं। और कपिल मतावलंबी तथा कौल मता-

धसंबी (वाममार्गी) की अपेक्षा से मीमांसक के दो भेद होते हैं। उनके साथ इस तरह का आचरण करना चाहिए:—

यदि परतीर्थी अपने घर भिक्षार्थ आजाएँ तो उनकी योग्य आवभगत करनी चाहिए। उनमें भी यदि राजादि के पूज्य हों तो उनकी विशेष रूप से आवभगत करनी चाहिए।

अगर कोई शंका करे कि परतीर्थी असंयती होते हैं उनकी उचित आवभगत क्यों करनी चाहिए? इस शंका को मिटाने के लिए ग्रंथकार महाराज कहते हैं कि—यदि परतीर्थियों के प्रति भक्ति-भाव न हो तो भी घर आये हुये परतीर्थी की उचित आव-भगत करना गृहस्थों का धर्म है।

इस व्यवहार को एक दर्शनवाले ही उचित नहीं समझते हैं, बल्कि सभी दर्शनवाले उचित समझते हैं। सभी मानते हैं कि घर आये हुए परतीर्थी की आवभगत करनी चाहिये, कष्ट में पड़े हुए का कष्ट मिटाना चाहिये और दुःखीका दुःख मिटाना चाहिये।

अब उचित आचरण का फल बताते हैं। ऊपर बताई हुई युक्ति से माता और पिता के प्रति उचित आचरण करनेवाले और सदा प्रसन्न मुख रहनेवाले पुरुष जैनधर्म के धारण करने के अधिकारी होते हैं। अर्थात् सम्यक्त्व, देशविरति और सर्व विरति रूप जैन धर्म को धारने योग्य होते हैं। जो पुरुष ऊपर बताये हुए नौ प्रकार के लौकिक उचित आचरण को भी नहीं

कर सकते हैं वे लोकोत्तर, तीक्ष्ण बुद्धि वाले और इन्द्रिय संयम रखने वाले पुरुष के धारण करने योग्य जैनधर्म को कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? इस लिए सभी गुणों की प्राप्ति होजाने पर भी धर्मार्थी पुरुष को पहले उचित आचरण जरूर करना चाहिये। उत्तम पुरुष स्वभाव से ही उचित आचरण करने वाले होते हैं। जैसे समुद्र मर्यादा नहीं छोड़ता, पर्वत अपनी जगह से नहीं हटता वैसे ही उत्तम पुरुष उचित आचरण को नहीं छोड़ते।

जगद्गुरु तीर्थंकर भी गृहस्थावस्था में माता पिता के प्रति उचित आचरण करते हैं। जिन्हें तीन लोक की परवाह नहीं ऐसे महा पुरुषों ने भी जब माता पिता के प्रति उचित आचरण किया है तब दूसरे पुरुषों को तो माता पिता के प्रति उचित आचरण करने का प्रयत्न अवश्यमेव करना चाहिए। जिससे वे विशेष-रूप से धर्म को प्राप्त कर सकें। कहा है कि—

विद्याः सन्ति चतुर्दशापि सकलाः खेलंतु वास्ताः कलाः।
कार्यं कामित कामकाम सुरभिः श्रीः सेवतां मन्दिरम्॥
दोर्दण्डद्वयदम्भरेख वतुतामेकातपत्रां महीम्।
न स्यात् कीर्तिपदं तथापि हि पुमानौचित्यचञ्चूर्ण चेत्॥६॥

अर्थ–जिसके पास चौदहों विद्याएं हों, जिसमें सारी कलाएं क्रीड़ा करती हों, मनोवांछित देने वाली जिसके पास कामधेनु हो, लक्ष्मी जिसके मंदिर की निरन्तर सेवा करती हो, अपने भुज-

समय पर सेठ के घर पुत्र उत्पन्न हुआ । उसने हर्ष शब्दों में बोला वररुचि को बुलवाया । वररुचि राजा को लेकर धनपति के घर गया उन दोनों के सामने बालक ने कहा- “हे राजन् ! तुम्हारी जय हो ! मैं उसी भील का बेटा जिसने आपको वनमें भोजन और विश्राम, स्थान दिया था। उस दान के प्रभाव से आज मैं नौ करोड़ स्वर्ण मुद्राके स्वामी के घर जन्मा हूं। इससे आप समझ सकते हैं कि दान का फल इस लोक में भी प्रत्यक्ष मिलता है।”

इस बात को सुनकर राजा आदि सभी लोगों को आश्चर्य हुआ और उसी दिनसे वे दान देने में तत्पर हुये।

दीन, अनाथ, दुखी आदि को तो दान देना ही चाहिये। उनके लिये कहा है कि— मोक्ष फल प्राप्ति का दान देने के लिये पात्रापात्र का विचार करना चाहिये । मगर दया, दान तो हर जगह देना चाहिये। उसके लिये तत्वज्ञों ने कोई निषेध नहीं किया है।

ऊपर कहे अनुसार जो पुरुष अतिथि आदि की सेवा में तत्पर रहता है और सद्भाव रखता है वह अपने आत्मा में गृहस्थ धर्मकी योग्यता स्थापित करता है और गृहस्थ धर्मके योग्य होता है।

* इति *

राजा से बोली:--तुम्हारे कारण मेरे पति की मृत्यु हुई है। मैं भी आत्महत्या करूंगी। राजा ने उसे समझाया और धन देकर प्रसन्न किया।

थोड़ी देर में राजा की सेना भी ढूंढ़ती हुई आगई। राजा नगर में गया। रस्ते में यही सोचता रहा कि दान का फल यदि इस लोक में नहीं मिलता है तो अनर्थ के सिवा फिर और क्या हो सकता है? क्या दान (परोपकार) का फल मौत है?

शहर में जाकर राजा ने अपनी सभाके पंडितों को बुलाया और कहा:- "तुम दान की बड़ी महिमा गाया करते हो; परन्तु मैंने तो उसका फल हानि देखा है। इसलिये अपने कथन के अनुसार मुझे दान का शुभ फल प्रत्यक्ष दिखाओ अन्यथा तुम्हें प्राण-दंड दिया जायगा।"

पंडित उत्तर देनेके लिये कुछ समय मांग कर घर गये। सभी चिन्ता में पड़े, वररुचि नाम का पंडित सबका मुखिया था उसने सरस्वती की आराधना की। सरस्वती प्रसन्न होकर प्रकट हुई और बोली:- "इस नगर के महान व्यापारी धनपति के घर थोड़े ही महीनों में लड़का उत्पन्न होगा। वह बालक जन्मते ही तुझे बुलायेगा। उस समय राजा को साथ लेकर वहां जाना वह तुझे दान का प्रत्यक्ष फल बतायेगा।" सरस्वती अदृश्य होगई। पंडित ने राजा को स्वप्न की बात सुनाई।

बल से पृथ्वी में जिसने अपना एक छत्र अधिकार कर रक्खा हो, ऐसा पुरुष भी यदि उचित आचरण करने में निपुण नहीं होता है तो उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती है।

समय पर आये हुए अभ्यागतों की सेवा बहुत बड़े फल की देने वाली होती है। उसके लिए शालिवाहन की कथा बहुत प्रसिद्ध है। वह यहां दी जाती है।

प्रतिष्ठानपुर में शालिवाहन (सात वाहन) नाम का राजा था। एक दिन वह वन में भटक गया। जंगल में उसकी फ़ौजके लोग जुदा पड़ गये। वह भटकता हुआ एक वृक्षके नीचे जाकर बैठा। पास ही में एक भील का घर था। भील ने उसे अपना अतिथि समझा और उसका सत्कार किया। अपने घर में ले जाकर बिठाया और घर में सत्तू थे वह राजा के सामने रक्खे। राजा भूख से व्याकुल हो रहा था। खाकर शान्त हुआ।

सर्दी ज़ोर की पड़ रही थी। भील की झोंपड़ी इतनी बड़ी न थी कि, भील भीलनी और राजा तीनों उसमें सो सकते। इसलिए भील बाहर सोया और राजा को अन्दर सुलाया। ओढ़ने के कपड़े भी पूरे न थे। भील ने अपनी गुदड़ी राजा को दी और आप ऐसे ही पड़ रहा।

सर्दी की अधिकता से भील ठिठुर गया और सवेरे तो वह मरा हुआ मिला। भीलनी यह देखकर रोने कलपने लगी और

राजा से बोली:—तुम्हारे कारण मेरे पति की मृत्यु हुई है। मैं भी आत्महत्या करूंगी। राजा ने उसे समझाया और धन देकर प्रसन्न किया।

थोड़ी देर में राजा की सेना भी ढूंढती हुई आगई। राजा नगर में गया। रस्ते में यही सोचता रहा कि दान का फल यदि इस लोक में नहीं मिलता है तो अनर्थ के सिवा फिर और क्या हो सकता है ? क्या दान (परोपकार) का फल मौत है ?

शहर में जाकर राजा ने अपनी सभा के पंडितों को बुलाया और कहा:—"तुम दान की बड़ी महिमा गाया करते हो; परन्तु मैंने तो उसका फल हानि देखा है। इसलिये अपने कथन के अनुसार मुझे दान का शुभ फल प्रत्यक्ष दिखाओ अन्यथा तुम्हें प्राण-दंड दिया जायगा।"

पंडित उत्तर देनेके लिये कुछ समय मांग कर घर गये। सभी चिन्ता में पड़े. वररुचि नाम का पंडित सबका मुखिया था उसने सरस्वती की आराधना की। सरस्वती प्रसन्न होकर प्रकट हुई और बोली:— "इस नगर के महान् व्यापारी धनपति के घर थोड़े ही महीनों में लड़का उत्पन्न होगा। वह बालक जन्मते ही तुझे बुलायेगा। उस समय राजा को साथ लेकर वहां जाना. वह तुझे दान का प्रत्यक्ष फल बतायेगा।" सरस्वती अदृश्य होगई। पंडित ने राजा को [illegible] बातें सुनाई।

समय पर सेठ के घर पुत्र उत्पन्न हुआ । उसने स्पष्ट शब्दों में बोला वररुचि को बुलवाया । वररुचि राजा को लेकर धनपति के घर गया उन दोनों के सामने बालक ने कहा:— "हे राजन्! तुम्हारी जय हो! मैं उसी भील का जीव हूं जिसने आपको वनमें भोजन और विश्राम, स्थान दिया था। उसी दान के प्रभाव से आज मैं नौ करोड़ स्वर्ण मुद्राके स्वामी के घर जन्मा हूं। इससे आप समझ सकते हैं कि दान का फल इस लोक में भी प्रत्यक्ष मिलता है।"

इस बात को सुनकर राजा आदि सभी लोगों को आश्चर्य हुआ और उसी दिनसे वे दान देने में तत्पर हुये।

दीन, अनाथ, दुखी आदि को तो दान देना ही चाहिये। उनके लिये कहा है कि— मोक्ष फल प्राप्ति का दान देने के लिये पात्रापात्र का विचार करना चाहिये। मगर दया, दान तो हर जगह देना चाहिये। उसके लिये तत्वज्ञों ने कोई निषेध नहीं किया है।

ऊपर कहे अनुसार जो पुरुष अतिथि आदि की सेवा में तत्पर रहता है और सद्भाव रखता है वह अपने आत्मा में गृहस्थ धर्मकी योग्यता स्थापित करता है और गृहस्थ धर्मके योग्य होता है।

* इति *

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर

की

नियमावली।

१-इसका मेम्बर हर एक हो सकता है।

२-फीस मेम्बरी कम से कम २) वार्षिक है, अधिक देनेका हर एकको अधिकार है फीस आगाऊ लीजाती है। जो महाशय एक साथ सोसायटी को ५०) देंगे, वह इसके लाइफ मेम्बर समझे जावेंगे। वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया जावेगा।

३-इस सोसायटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होता है। जो महाशय मेंबर होंगे वे चाहे किसी महीने में मेम्बर बनें, चन्दा उन से ता० १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक का लिया जावेगा।

४-जो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितर्ण कराना चाहें उनका नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जावेगा।

५-जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हर एक मेंबर के पास बिना मूल्य भेजे जाया करेंगे।

सेक्रेटरी।

श्राद्ध गुण विवरण

दसवां भाग

कृष्णलाल वर्मा।

❀ श्री वीतरागायनमः ❀

परमर्षि श्री जिन मराडन गणि विरचित

श्राद्ध गुण विवरण

(दसवां भाग)

ट्रैक्ट नं० ८८

अनुवादक—

श्रीयुत बाबू कृष्णलाल जी वर्मा ।

प्रकाशक—

मंत्री-श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अंबाला शहर ।

वीर सं० २४५३ । आत्म सं० ३२ ।

प्रति ३००० मूल्य ≈)॥

विक्रम सं० १९८४ ईस्वी सन् १९२७

॥ श्री वीतरागायनमः ॥

श्राद्ध गुण विवरण ।

दसवां भाग

उनत्तीसवां गुण ।

अब 'लोक वल्लभ' नामक उनत्तीसवें गुण का वर्णन किया जाता है।

जो दान और विनयादि गुणों से लोगों को प्रिय होता है वह लोक वल्लभ कहलाता है। इस लोक में कौन ऐसा पुरुष है जो गुण वालों से स्नेह नहीं रखता है? जनवल्लभता ही सम्यक्त्वादि साधनों में प्रधान अंग गिना जाता है। इसके लिये श्रीहरि भद्रसूरिजी महाराज कहते हैं कि—

> "सव्वजण वल्लहत्तं,
> अगरहियं कम्मधीरया वसणे।"

अर्थात्—सर्वजन प्रियता, अनिंदि कर्म और कष्ट में धीरज ये ही सम्यक्त्वादि के साधन में प्रधान अंग हैं। जो लोकप्रिय नहीं होता है वह अपने ही सम्यक्त्व का नाश करने में कारण नहीं होता है बल्कि लोगों से अपनी धर्म क्रियाओं को दूषित कराता हुआ दूसरों के सम्यक्त्व को नाश करने में भी कारण

उस समय मगध देश नौ लाख गांवों और नगरों से सुशोभित था। उनमें राजगृह नाम का नगर मुख्य था। वही मगध देश की राजधानी थी। उसमें सम्यक् प्रकार से सम्यक्त्व को धारण करने वाले श्रेणिक नाम का राजा राज्य करता था। उसका पुत्र अभयकुमार राजमंत्री था। वह विनयी, विवेकी, त्यागी, कृतज्ञ, कृपालु एवं नीति, पराक्रम और धर्म का साक्षात् अवतार था। राजा ने सारे राज्य की देख भाल अभयकुमार को सौंप दी और आप चेलणा रानी के साथ विलास करने में रत हुआ।

जब हेमंत ऋतु प्रारंभ हुई तब भगवान् महावीर राजगृही नगरी में पधारे। एक दिन तीसरे पहर के समय राजा और रानी गुणशील नाम के चैत्य में दर्शन करने गये थे। वहां से लौटते समय नदी के किनारे उन्होंने वस्त्र रहित एक मुनि को कार्योत्सर्ग ध्यान करते देखा। वे वाहन से उतरे, मुनि को भक्ति सहित नमस्कार कर पुनः वाहन पर चढ़े और अपने महल में चले गये।

संध्याकर्म—भोजनादि से निवृत्त हो देवसि प्रतिक्रमण करने के बाद राजा और रानी सोगये। रात के समय रानी का हाथ सौड़ से बाहिर रहने के कारण ठिठुरने लगा। उसकी नींद खुल गई। उसे भयानक सर्दी का अनुभव हुआ। उसे वस्त्रहीन अवस्था में तप करते मुनि का खयाल आया। वह एक निःश्वास डालकर बोली,—"उनकी क्या दशा होती होगी?" और तब अपना हाथ सौड़ के अन्दर लेकर सो रही।

दैवयोग से उस समय राजा की नींद भी उड़ गई थी। उसने रानी का वाक्य सुनकर सोचा,–रानी व्यभिचारिणी हो गई है। इस समय अपने यार का विचार कर रही है। राजा बड़ा क्रुद्ध हुआ। रात भर उसे नींद न आई सवेरे ही उठकर बाहर आया और अपने पुत्र को बुला कर बोला:—"अभय कुमार! अन्तपुर का नाश हुआ है। इसलिये चारों तरफ से उसके दर्वाजे बन्द कर, आग लगादे। खबरदार! माता के स्नेह में आकर कहीं मेरी आज्ञा का उल्लंघन न करना।" राजा भगवान् महावीर को वन्दना करने चला गया।

इधर निर्मल और निश्चित धारणा रखने वाले कुमार ने सोचा–मेरी सभी मातायें सतियों के तिलक समान हैं। जान पड़ता है पूज्य पिता को भ्रम हुआ है। इसलिये इस असम्भव बात की संभावना कर उन्होंने यह निष्ठुर आज्ञा दी है। पिता की क्रोध ज्वाला में अनेक निर्मल स्त्रियां भस्मीसात होंगी। यह वेसोचे किया हुआ काम अन्त को दुःखदायी होगा। कहा है कि—

सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पंडितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते–
भवति हृदयदाही शल्य तुल्यो विपाकः॥४॥

भावार्थ—कार्य, गुणवाला हो अथवा गुणहीन, चाहे कैसा ही हो; मगर परिडत को चाहिये कि वह पहले उसकी परिणति का–फल का विचार करले। काम करने में जल्दी न करे। जो कार्य जल्दी बेसोचे किया जाता है उसका परिणाम–फल विपत्ति पर्यंत (मरण पर्यंत) [illegible] हृदय को दुःख दिया करता है

अधिक प्रिय होगई है । इधर मैंने उस पर अत्याचार भी किया है । इस लिये जब तक मैं उसके लिये कोई विशेष बात न करूंगा तब तक मुझको सन्तोष न होगा ।

इस तरह विचार कर राजा ने अभयकुमार को बुलाया और कहा:—"हे पुत्र ! तू जानता है कि चेलना पर मेरा असाधारण प्रेम है । इस प्रेम को बताने वाला उसके लिये एक थंभेवाला उत्तम महल तैयार करा कि जिसमें वह विशेष सुख से रह सके । "

अभयकुमार यह कह कर चला गया कि आपकी आज्ञा का पालन शीघ्र ही होगा । उसने एक होशियार कारीगर को बुलाया और उसे वन में भेजा । कारीगर योग्य वृक्ष की तलाश करने लगा । फिरते २ उसे एक वृक्ष दीखा । उसने सोचा-यह वृक्ष सब तरह से योग्य है; परन्तु इसको काटने के पहिले इसमें रहने वाले व्यंतरादि देवों को, पूजादि से प्रसन्न करना चाहिये । क्योंकि अभयकुमार ने ऐसा ही हुक्म दिया है ।

कारीगर ने दिन भर उपवास किया और गन्ध, पुष्प, नैवेद्यादि से पूजा करके प्रार्थना की कि—"राजा के आदेश से कल सवेरे ही मैं इस वृक्ष को काटूंगा । मंत्री अभयकुमार की आज्ञा है कि, वृक्ष के अन्दर निवास करने वालों को सन्तुष्ट कर उनकी आज्ञा लेना और तब वृक्ष को काटना । इस लिये वृक्ष के अन्दर रहने वाले हे गंधर्व, गण, यक्ष या राक्षस आप जो इसमें निवास करते हों प्रसन्न हूजिये और मुझे वृक्ष को काटने की आज्ञा दीजिये ।"

कारीगर वहीं वृक्ष के नीचे सोगया। उस वृक्ष में एक व्यंतर रहता था उसने सोचा–अभयकुमार कैसा विनयी और शील स्वभाव वाला है ? अगर इस सुतार को अभयकुमार ने मुझे सन्तुष्ट करने को न कहा होता तो मेरी क्रोध रूपी दीप-शिखा में न केवल सुतार ही बल्कि सारा राज्य ही पतंग की तरह जलकर भस्म हो जाता; मगर उत्तम पुरुष बिना विचारे कभी कोई काम नहीं करते। अभयकुमार ने मुझे सन्तुष्ट किया है। इस लिये मैं भी उसका कुछ काम करदूं।"

इस तरह सोचकर व्यंतर ने अभयकुमार को आधीरात में जाकर स्वप्न दिया और कहा:—"मैं तेरे विनय और पूजादि से सन्तुष्ट हूं। इस लिए मैं ही एक स्तम्भ का महल और उसके चारों तरफ सुन्दर एवं सभी ऋतुओं के फल फूलों से सुशोभित बगीचा तैयार कर दूंगा। तू आदमी भेजकर सुतार को वापिस बुलाले।"

अभयकुमार ने उठकर तत्काल ही आदमी दौड़ा दिये। दिन निकलने से पहिले ही आदमियों ने जाकर सुतार को अभय-कुमार का हुक्म सुनाया। सुतार वापिस नगर में लौट आया। उधर व्यंतर ने रात ही में हृदयहारी बगीचा और महल तैयार कर दिये।

अभयकुमार ने राजा श्रेणिक से आकर विनती की कि एक स्तम्भ का महल तैयार है। आप चलकर देखलें। राजा ने जाकर महल देखा। उसको बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि एक रात ही में यह महल कैसे तैयार हो-गया ? अभयकुमार ने राजा को सारा

हाल सुनाया। राजा तुष्ट हुआ। फिर उसने चेलणा रानी को वह महल दिया और कहा:—हे सुन्दरी! तुम यहां रह कर विद्याधरी की तरह इच्छानुसार विलास करो और धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थ का साधन कर अपने जन्म को सफल बनाओ।"

अभयकुमार गृहस्थधर्म को अंगीकार कर भली भांति से उसका पालन करने लगे। एक बार राजा श्रेणिक उन्हें राज्य देने लगे; परंतु सन्तोष परायण अभयकुमार ने राज्य ग्रहण न किया। उन्होंने सोच रक्खा था कि, मैं अन्तिम राजर्षि हो सकूंगा या नहीं? यह बात मालूम होने पर राज्य ग्रहण करने न करने की बात स्थिर करूंगा। यदि राजर्षि होना मेरे भाग्य में है तो मैं राज्य अंगीकार करूंगा अन्यथा नहीं। मगर यह बात भगवान् से पूछे बिना मालूम कैसे हो सकती है?"

अभयकुमार को थोड़े ही दिनों में अपनी इच्छा पूरी करने का अवसर मिल गया। भगवान् महावीर वीतभयपत्तन नामक नगर के राजा उदायन को दीक्षा देकर राजगृह नगरी में पधारे। अभयकुमार भी अपने परिवार सहित प्रभु की वन्दना करने गया। उसने अवसर पाकर पूछा—"हे प्रभो! इस भरत क्षेत्र में अन्तिम राजर्षि कौन होगा?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"उदायन राजा चरम् (अन्तिम) राजर्षि होगा इसके बाद इसके जैसे या इससे बड़े कोई भी राजा दुःखम काल के प्रभाव से साधुव्रत को अंगीकार नहीं करेंगे।"

यह सुनकर अभयकुमार ने राजा श्रेणिक के चरणों में नम-स्कर कहा:—"हे पिता जी! आपने मुझे जो वर दिया था

उसको अब पूर्ण करने का समय आगया है। अब तक मैंने अन्तिम राजर्षि बनने की इच्छा से दीक्षा नहीं ली थी; परंतु ऐसा होनहार नहीं है। इसलिये आप कृपा करकेमुझे अनुमति दीजिये कि, प्रभु के पास से दीक्षा ग्रहण कर मैं कृतार्थ होऊँ।"

यद्यपि राजा को प्रिय पुत्र एवं योग्य मंत्री के वियोग का दुःख मालूम हुआ; तथापि उसने धीरज रख कर कहा:—हे वत्स! तेरे समान उत्तम पुरुषों के लिये यही योग्य है। मैं जानता हूँ तेरे चले जाने से मेरी दाहिनी भुजा ही जाती रहेगी, तो भी मैं इस शुभ कार्य में विघ्न न करूँगा। आज तक जैसे मैं तेरी दूसरी बातें मानता रहा हूँ वैसे ही यह बात भी मानूँगा। जिस राज्य के लोभ से राजकुमार अनेक कुकृत्य कर डालते हैं उसी राज को तूने ग्रहण न किया। तू धन्य है। पुत्र जाओ अखंड व्रत पाल कर माता पिता के मुख को उज्वल करो।"

दूसरे दिन राजा श्रेणिक ने निष्क्रमण महोत्सव किया। अभयकुमार धन रत्न का दान करता हुआ भगवान के चरणों में पहुँचा। प्रभु ने विधिपूर्वक उसको दीक्षा दी। अभयकुमार की माता नंदा ने भी उसके साथ ही दीक्षा ली। कुछ काल के बाद अभयकुमार ग्यारह अंगों के धारी बने और निरति चार व्रत पालते हुए सर्वार्थ सिद्धि विमान में उत्पन्न हुए और वहां से च्यव मनुष्य योनि में उत्पन्न हो, दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष में जायँगे।

ग्रंथकार प्रस्तुत गुण की समाप्ति करते हुए फल बताते हैं कि:—

नयविनयविवेकच्छेकतार्यैर्गुणौघैः,
सकलजनमनांसि प्रीणयन्तो महान्तः।

अभयवदिति लोके वल्लभत्वं दधाना,
निरुपमजिनधर्मे योग्यतां संश्रयन्ते ॥ ५ ॥

भावार्थ—ऊपर कही हुई कथा के नायक अभयकुमार की तरह नीति, विनय, विवेक और निपुणता आदि गुणों के द्वारा इस लोक में सारे लोगों के अन्तःकरणों को सन्तुष्ट करने वाले महापुरुष जनवल्लभता को धारण कर सर्वोत्तम जिन धर्म की योग्यता को प्राप्त करते हैं।

तीसरा गुण ।

अत्र ग्रंथकार महाराज तीसरे सलज्ज नाम के गुण का वर्णन करते हैं।

सलज्ज—निर्लज्जता के अभावरूप लज्जा से जो पुरुष युक्त होता है उसे लज्जावान, लज्जाशील, या सलज्ज कहते हैं। जो पुरुष वास्तविक लज्जाशील होते हैं वे कभी अङ्गीकृत का त्याग नहीं करते, न कभी वे अनुचित काम में प्रवृत्ति ही करते हैं। यदि दैवयोग से उनसे कोई अनुचित कार्य हो जाता है तो मालूम होते ही वे अपनी भूल सुधार लेते हैं। कहा है कि,—

लज्जया कार्यनिर्वाहो, मृत्युर्युद्धेषु लज्जया।
लज्जयैव नये वृत्ति—र्लज्जा सर्वस्य कारणम् ॥१॥
लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
[illegible]यन्त शुद्ध हृदया मनुवर्त्तमानाः।
[illegible] सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥२॥

भावार्थ—लज्जा से कार्य का निर्वाह होता है, लज्जा से युद्ध में वीरों की मृत्यु होती है और लज्जा ही से मनुष्य नीति मार्ग पर चलता है। इसीलिये कहा है कि लज्जा सभी का कारण है।

श्रेष्ठ और अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली माता की तरह अनेक गुणों को उत्पन्न करने वाली लज्जा का अनुसरण करने वाले एवं तेजस्वी और सत्य की सीमा में रहने की आदत वाले मनुष्य सुख के साथ अपने प्राणों का त्याग करते हैं; परन्तु की हुई प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ते। और भी कहा है कि—

लज्जालुओ अकज्जं
वज्जइ दूरेण जेण तणुअंपि।
आइरइ सयायारं,
न मुयइ अङ्गी कयं कह वि॥३॥

भावार्थ—लज्जाशील मनुष्य दूर ही से छोटे से अकार्य को भी छोड़ देते हैं, सदाचार को आचरण में लाते हैं और स्वीकार किये हुए काम को कभी नहीं छोड़ते हैं।

दूरे ता अन्नजणो, अंगेचिय जाइं पंच भूयाइं।
तेसिंपि य लज्जिज्जइ पारद्धं परिहरंतेहिं॥४॥

भावार्थ—दूसरों से शर्माने की बात तो अलग रही; मगर अपने शरीर में रहने वाले पंच महाभूतों से भी लज्जित हुए प्रारम्भ किये हुए काम को छोड़ते हुए शर्माते हैं।

इसके लिये आम्बडदेव का उदाहरण बहुत ही उत्तम है वह यहां दिया जाता है।

आम्बडदेव अणहिल्लपुर पाटन के राजा कुमार का मन्त्री था। एक दिन सभा भरी हुई थी। चौलुक्य भूपाल कुमारपाल राज-सिंहासन पर विराजमान थे। उस समय किसी चारण ने कोकण के राजा मल्लिकार्जुन को 'राज पितामह' की पदवी के साथ स्मरण किया। कुमारपाल को यह पदवी सुनकर कुछ क्रोध हो आया। उसने ज़रा टेढ़ी निगाह के साथ सभास्थित लोगों की तरफ देखा कोई इस दृष्टि का मतलब न समझा; परन्तु आम्बडदेव हाथ जोड़ कर सामने खड़ा हो गया। राजा कुछ मुसकराया, मगर बोला नहीं। सभा विसर्जन होने के बाद राजा ने आम्बड से पूछाः—"मंत्री जी ! तुम हाथ जोड़ कर क्यों खड़े हो गये थे।

आम्बड ने उत्तर दियाः—"राजन् ! मैंने आपकी दृष्टि का आशय समझा था। वह कह रही थी कि,—क्या कोई इस सभा में ऐसा आदमी है जो जाकर इस नृपाभास मिथ्याभिमानी मल्लिकार्जुन के गर्व को चूर्ण कर सके। मैं अपने को आपकी आज्ञा पालने के योग्य समझता हूँ। इसीलिए मैंने हाथ जोड़कर मौन भाषा में विनती की थी कि,—सेवक प्रभु की इच्छा पूर्ण करने को तत्पर है।"

कुमारपाल ने प्रसन्न होकर उसे मल्लिकार्जुन पर आक्रमण करने वाली सेना का सेनापति बना, सरोपाव दे विदा किया। आम्बड देव विदा होकर कुंकण (कोकन) देश में पहुँचा। अति जल परिपूर्ण कोलंबिनी नाम की नदी को पार कर आम्बड ने सेना सहित पड़ाव डाला। सन्ध्या हो चुकी थी। अभी लड़ाई का कोई अवसर नहीं था। इसलिये आम्बड और उसकी सेना ... थी। इतने ही में मल्लिकार्जुन ने आकर आक्रमण किया।

वे खबर सेना कटने लगी और आम्बडदेव भी कोई उपाय न देख बची बचाई सेना को लेकर भाग खड़ा हुआ।

आम्बड भाग कर चुपचाप पाटण के पास कृष्णगृढ़ शहर नाम के स्थान में आ रहा। लज्जा के मारे वह महाराज को कुछ समाचार भी न दे सका। उसने शोक के चिन्ह धारण किये। महाराज कुमारपाल को उसके आने के समाचार मिल चुके थे; परन्तु उन्होंने आम्बड को अपने पास बुला कर लज्जित न करना चाहा। अतः वे सैर करने के बहाने जिधर आम्बड का पड़ाव था उधर से निकले। अजान की तरह उन्होंने एक आदमी से पूछा:— "यह किसका पड़ाव है ?"

किसी मुंहफट दर्बारी ने अर्ज की:—"अन्न दाता ! मल्लिकार्जुन से पराजित होकर आये हुए सेनापति आम्बड का पड़ाव है।

कुमारपाल "अच्छा !" कह कर घोड़े से उतर पड़ा और आम्बड से मिलने चला। आम्बड ने यह खबर सुनी। वह नंगे पैर दौड़ता हुआ आया और कुमारपाल के चरणों में गिर पड़ा। उसके मुख से एक शब्द भी न निकला। राजा ने उसको उठाया और हँसते हुए कहा:—"आम्बड ! हार जीत होती ही रहती हैं। इसमें शर्माने की क्या बात है ? जाओ फिर से सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण करो और विजय दुंदुभि बजाते हुए घर आओ।

आम्बडदेव फिर से सेना सजाकर चला। कोलंबिनी नदी को पार कर मल्लिकार्जुन पर आक्रमण किया। मल्लिकार्जुन पहले ही से तैयार था। दोनों सेनाएँ भिड़ गईं। भयंकर मार काट शुरू हुई। जब मल्लिकार्जुन और आम्बडदेव के हाथी एक दूसरे के मुकाबिले में पहुँचे तब आम्बड ने ललकार

"मल्लिकाअर्जुन इष्टदेव का स्मरण कर यमलोक जाने को तैयार हो ! और बरछे का वार किया । उसने महावात के प्राण लिए । हाथी ने निरंकुश होकर पीठ फेरी । वीर अर्जुन ने इसमें अपना अपमान समझा । वह हाथी से नीचे कूद पड़ा । आम्वड़ भी हाथी से नीचे उतर आया । हाथी को भागा देख मल्लिकार्जुन की सेना में खलबली मच गई । वह भागने लगी । आम्वड़ की सेना उनका नाश करने लगी ।

इधर दोनों वीरों में अति युद्ध होने लगा । बहुत देर तक वे अपनी तलवार चलाने की करामात दिखाते रहे । आखिर में आम्वडदेव ने मल्लिकाअर्जुन का सिर काट लिया । कुंकण देश में-कोकण में-कुमारपाल राजाकी दुहाई फिर गई । अणहिलपुर नरेश की विजय पताका वहां फहराने लगी । अपने एक होशियार वीर और विश्वस्त पुरुष के अधिकार में वहां का अधिकार दे कुछ फौज उसके पास रख आम्वड़देव अणहिलपुर में लौट आया । राजा ने उसका स्वागत किया । उसने मल्लिकाअर्जुन के मस्तक के साथ ही शृंगार कोटि नाम की साड़ी, माणिक्य नाम का पट, पापक्षयंकर नामका हार, संयोग सिद्ध नाम की छींट, सोने के बत्तीस कलश, मोतीकी छःमूठें (कवजे) चार दाँत (?) वाला सेटक नामका हाथी, एकसौ बीस पात्र और चौदह करोड़ स्वर्ण मुन्द्राऐं आदि वस्तुऐं अपने स्वामी के चरणों में रक्खीं । राजा बहुत खुश हुआ और उसने आम्वड़देव को राज पितामह" के पदसे विभूषित किया ।

अब चालू विषय को समाप्त करते हुए ग्रंथकार उपदेश द्वारा इस गुणका फल बताते हैं ।

संकटेऽपि महति प्रतिपन्नं लज्जया त्यजति पन्न मनस्वी
निर्वहेच खलु तेन सलज्जःसम्मतः शुभविधावधिकारी॥

भावार्थ—बहुत बड़ा संकट आने पर भी मनस्वी पुरुष अंगीकृत काम को लज्जा के कारण नहीं छोड़ता, बल्कि उसको पूरा करता है। इसीलिए लज्जावान पुरुष धर्मकार्य करने का अधिकारी समझा जाता है।

इकतीसवां गुण

अब 'सदय' नाम के इकत्तीसवें गुण का वर्णन किया जाता है।

दुःखी जीवों की रक्षा करने की अभीलाषा को 'दया' कहते हैं। इस दया से जो युक्त होता है,-ऐसी दया जिसमें होती है वह **'सदय'** अथवा **'दयावान'** कहलाता है। दया धर्म का मूल है। इसीलिए दयालु ही धर्म के योग्य समझा जाता है। कहा है कि;—

देहिनः सुखमीहंते, विना धर्मं कुतः सुखम् ?
दयां विना कुतो धर्म,-स्ततस्तस्यां रतो भव॥१॥

भावार्थ—प्राणी सुख की इच्छा करते हैं; मगर धर्म के बिना सुख कहां? और धर्म बगैर दया किस जगह है? अर्थात् दया के विना धर्म नहीं होता है इसलिए उसमें रत होओ यानी दया करो।

इस जगत में इन्द्र से लेकर कुंथुए तक तमाम प्राणी सुख की इच्छा रखते हैं। सुख का वास्तविक कारण धर्म है। मगर कषाय, अविरति, प्रमाद, और राग द्वेष आदि प्रबल कारणों से मनुष्य जिनोक्त यथार्थ धर्म का पालन भली प्रकार से नहीं कर सकता है। अतः उसे सुख भी नहीं मिलता है। जिसको सुख की इच्छा हो उसको चाहिए कि वह यथाशक्ति भाव पूर्वक धर्म का पालन करे। धर्म पालने वाले को संसारी सभी सुख मिलते हैं। इतना ही क्यों वह उत्तरोत्तर मोक्ष के अनंत सुख को भी प्राप्त कर सकता है। धर्म भी अहिंसा रूप होना चाहिए। क्योंकि धर्म का मूल अहिंसा है। प्रत्येक प्राणी जीने की आशा करता है। मरने की बात सुनते ही वह भय से कांप उठता है। जो ऐसे प्राणी को मार कर धर्म की इच्छा करता है। वह मानो जहर खाकर जीने की इच्छा करता है। सम्भव है, निकाचित– जो भोगे बिन छूट ही नहीं सकता है ऐसे–आयु कर्म के कारण कोई मनुष्य जहर खाकर भी जीवित रह जाय; मगर हिंसा कर के धर्म साधन की बात तो सर्वथा असम्भव है। इतना ही क्यों ? ऐसे आदमी को नरक के अति भयंकर दुःखों का अनुभव करना पड़ता है। इसलिए हरेक सुखाभिलाषी जीव को चाहिए कि वह जिन भगवान ने जिस तरह जीव दया पालने को कहा है उसी तरह पाले। यह बात नहीं है कि केवल जैन ही अहिंसा धर्म के उपासक हैं बल्कि आर्यावर्त के सभी आर्य धर्मावलम्बियों ने भी 'अहिंसा परमोधर्मः' को प्रधानता दी है। कहा है:—

ददातु दानं विदधातु मौनं,
वेदादिकं चापि विदांकरोतु

देवादिकं ध्यायतु सन्ततं वा,
नचेद्दया निष्फल मेव सर्वम् ॥२॥

भावार्थ—दान दो, मौन रक्खो, वेद अथवा दूसरे शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करो या निरन्तर देवादिकों का ध्यान करो; परन्तु यदि दया नहीं है तो ये सारी बातें व्यर्थ हैं।

विवेकी पुरुष को चाहिए कि दया भी अपने आत्मा ही की तरह करे। कहा है कि—

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा,
भूतानामपि ते तथा।
आत्मौ पम्येन भूतानां,
दयां कुर्वीत धर्मवित ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपने प्राण जैसे (हमें) प्यारे हैं वैसे ही अन्य प्राणियों को उनके प्राण प्रिय हैं। इसलिए धर्म के जानने वालों को चाहिए कि वे अन्य प्राणियों को अपने प्राणों के समान समझ कर उन पर दया करें। अर्थात् मनुष्य जैसे अपने द्रव्यों की रक्षा करता है वैसे ही दूसरों के प्राणों की भी रक्षा करे।

कृपा नदी महातीरे,
सर्वे धर्मास्तृणांकुराः।
तस्यां शोषमुपेतायां,
कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥४॥

भावार्थ—कृपा-दया-रूपी नदी के किनारे पर सभी धर्म तृण के अंकुर के समान हैं। यदि वह नदी सूख जाय तो ये कब

तक टिक सकते हैं ? यानी अगर दया ही न होगी तो फिर उसके आश्रित रहने वाले धर्म कैसे टिके रहेंगे ?

निज प्राणैः पर प्राणान्,
ये रक्षन्ति दयोज्ज्वलाः ।
द्वित्रास्ते सुर संस्तुत्या,
दुर्लभाः पुण्य पूरुषाः ॥४॥

भावार्थ—अपने प्राणों को देकर जो दूसरे के प्राणों की रक्षा करते हैं ऐसे उज्ज्वल-उत्तम देवताओं के द्वारा प्रशंसित, दुर्लभ दयावान् पुण्य पुरुष संसार में दो तीन ही होते हैं। यानी उँगलियों पर गिन लेने जितने ही होते हैं।

विक्रमादित्य नाम का राजा ऐसा ही हुआ है। उसकी कथा यहाँ दी जाती है।

एक बार राजा विक्रमादित्य को उसका घोड़ा उसे वन में ले गया था। उस समय वह प्यास से हैरान होकर इधर उधर पानी खोज रहा था। इतने ही में उसने देखा कि एक मैले पानी का जलाशय है और उसके कीचड़ में एक गाय फँस रही है। गाय ने राजा को देखा। उसने अपनी भाषा में दीनता के साथ राजा से रक्षा करने की प्रार्थना की। दीन दुःखियों की रक्षा करने की आदत वाला विक्रमादित्य अपनी प्यास के दुःख को भूल गया और गऊ को बचाने का यत्न करने लगा। अनेक उपाय किये, परन्तु वह गाय को बाहर न निकाल सका।

रात होगई थी। इतने ही में एक भूखा सिंह अचानक वहाँ आगया और गायका भक्षण करने के लिए गर्जा। विक्रमादित्य

सोचने लगा,-यदि मैं चला जाता हूँ तो सिंह गऊ को खा जाता है और यदि यहीं रहता हूँ तो मेरे प्राण लेता है। अब क्या करना चाहिये ? विशेष तर्क वितर्क करने का समय न था। उसने निश्चय किया कि,-अनाथ, भयभीत और पराजित प्राणियों का आश्रय राजा ही होता है। मैं भी राजा हूँ। इसलिये मुझे अपने प्राण देकर भी इस गाय की रक्षा करनी चाहिये।

राजा तलवार खींचकर गाय के पास जा खड़ा हुआ। सर्दी और डर के मारे गऊ कांपने लग रही थी। राजा ने अपना लबादा उतार कर उसको ओढ़ा दिया। सिंह भी क्षण भर स्तंभित हो रहा। आम के पेड़ पर एक तोता बैठा था वह बोला:—

"हे मालव पते ? जो गाय मौत के मुँह में पड़ी हुई है; आज या कल जिसके प्राण अवश्यमेव चले जायँगे, उसके लिए तू अपने प्राण क्यों देता है। भाग जा या इस वृक्ष पर चढ़ आ और अपने प्राण बचा।"

राजा ने जवाब दिया:—"हे शुक ! दुनियां में दूसरों के प्राणों का बलिदान कर अपने प्राणों की रक्षा सभी करते हैं, परन्तु अपने प्राण देकर दूसरों की रक्षा तो केवल बादल ही करते हैं। सूर्य के उदय होने से जैसे सूर्यकांत मणियां कान्तिवान होती हैं वैसे ही दया ही से सत्यादि गुण सुशोभित होते हैं। यानी जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य के बिना अपनी कान्ति नहीं दिखा सकती है वैसे ही सारे धर्मों में प्रधान दया के बिना सत्यादि गुण कभी प्रस्फुटित-प्रकट नहीं होते हैं। इससे साफ है कि, धर्म रूप कल्प-वृक्ष का बीज, जगत के सारे प्राणियों को सुख देने वाला और

अनन्त दुःखों का नाश करने वाला यदि कोई हो तो वह एक दया ही है। सेनापति के बिना सेना जैसे निकम्मी होती है वैसे ही देवगुरु की चरणोपासना, तपस्या, इन्द्रिय निग्रह, दान और शास्त्रों का अध्ययन आदि सारी धर्मकृतियाँ एक दया के बिना निष्फल हैं। आज या कल जैसे गाय के लिए मरना निश्चित है वैसे ही मेरे लिए भी है। ऐसी दशा में यदि मैं अपने प्राण देकर गाय के प्राण बचाऊँगा तो इसमें मेरी भलाई ही है।"

राजा सारी रात गाय की रक्षा करता रहा ? जब जब सिंह आक्रमण करने को तैयार होता तभी तब राजा तलवार का आघात करने को तत्पर दिखाई देता। सिंह चुपचाप बैठ रहता। इसी तरह बहुत सी रात बीत गई। फिर उसकी आँख लग गई। सवेरे तक न खुली।

राजा की सवेरे जब आँख खुली तब उसने आश्चर्य के साथ देखा कि, वहां न सिंह है, न तोता है न गाय ही है। मगर सामने से दो देवता आ रहे हैं। देवता जब उसके पास पहुंचे तब उनमें से एक बोला:—

"हे राजा ! इन्द्रने एक दिन सभा में बैठे हुए कहा था कि विक्रमादित्य के समान कोई पुरुष इस समय दाता और दयावान नहीं है। इसलिए हमने तेरी परीक्षा करने के लिए देव माया रची और परीक्षा ली। हमने तुझे उन गुणों से पूर्ण पाया। हे राजा ! तू धन्य है कि इन्द्र भी तेरी प्रशंसा करता है। हम तुम पर प्रसन्न हैं। जो चाहिए सो वर माँग।"

भावार्थ—इस तरह दया के रस से उल्लसित बढ़ती हुई और धर्मरूपी साम्राज्य को सुशोभित करने वाली संपदाओं को देख, हे भव्य लोगो ! तुम्हें दयालु होना चाहिये ।

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसाइटी

अंबाला शहर

की

नियमावली

इसका मेम्बर हर एक हो सकता है।

२—फीस मेम्बरी कम से कम २) रु० वार्षिक है, अधिक
ा हरएक को अधिकार है फीस अगाऊ ली जाती है। जो
ाय एक साथ सोसायटी को ५०) देंगे, वह इसके लाइफ
समझे जावेंगे। वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया
ा।

३—इस सोसाइटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होता है।
हाशय मेम्बर होंगे वे चाहे किसी महीने में मेम्बर बनें, चंदा
ता० १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक का लिया जावेगा।

४—जो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसाइटी
प्रकाशित कराकर विना मूल्य वितरण कराना चाहें उनका
ट्रैक्ट पर छपवाया जावेगा।

५—जो ट्रैक्ट यह सोसाइटी छपवाया करेगी वे हर एक
र के पास विना मूल्य भेजे जाया करेंगे।

सेक्रेटरी

श्री वीतरागायनमः ।

श्राद्ध गुण विवरण

बारहवां भाग

ट्रैक्ट नं०

लेखक—

श्रीयुत बाबू कृष्णलालजी वर्मा

प्रकाशक—

मंत्री—श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी,

अंबाला शहर ।

वीर संवत् २४५३ } प्रति { विक्रम संवत् १९८४
आत्म संवत् ३१ } ८०० { ईस्वी सन् १९२७

श्री वीतरागाय नमः

श्राद्ध गुण विवरण

आठवाँ भाग

बत्तीसवां गुण।

अब 'सौम्य' नाम के बत्तीसवें गुण का वर्णन किया जाता है।

जो मनोहर आकृति वाला हो जो सुन्दर हो या जिसको देखना अच्छा लगता हो वह सौम्य कहलाता है। वह गृहस्थ धर्म के योग्य हो सकता है। उससे विपरीत जो क्रूर आकृति वाला हो, जिसको देखने से भय उत्पन्न हो जाय ऐसा बद सूरत हो वह प्रायः लोगों के लिए उद्वेग का कारण होता है और वह विशेष धर्म के योग्य नहीं हो सकता है। सच-मुच ही सौम्यता सब को अपनी तरफ खींचने वाली होती है। कहा है कि—

अपकारिण्यापि प्रायः सौम्याः स्युरुपकारिणः ।
मारकेभ्योऽपि कल्याणं, रसराजः प्रयच्छति ॥ १ ॥

भावार्थ—पारा जैसे अपने मारने वाले का भी कल्याण करता है वैसे ही मनोहर आकृति वाले यानी सुकुमार स्वभाव वाले मनुष्य प्रायः अपकार–बुरा करने वाले–का भी भला ही किया करते हैं।

अथवा जो सुख से आराधन करने योग्य अपना स्वभाव बनाते हैं और दुःख से साधने योग्य स्वभाव को छोड़ देते हैं वे सौम्य कहलाते हैं। ऐसे पुरुष हरेक बात सरलता से समझ जाते हैं। इससे विपरीत यानी क्रूर स्वभाव वाला मनुष्य और तो क्या अपने कुटुम्ब तक का विरोधी बन जाता है और इससे कुटुंब उसको छोड़ देता है। वह असहाय हो जाता है। सौम्य–सुकोमल स्वभाव वाले के शत्रु भी मित्र बनते हैं और समय पर उसकी मदद करते हैं। रामचन्द्र जी का उदाहरण इसके लिए प्रसिद्ध है। रामचन्द्र जी के कट्टर शत्रु रावण के छोटे भाई विभीषण ने रामचन्द्र जी की सेवा इसलिए स्वीकारी थी कि उनका स्वभाव कोमल था और रावण को इस लिए छोड़ दिया था कि उसका स्वभाव क्रूर था। कहा है कि—

चन्द्रः सुधामयत्वादुडुपतिरपि सेव्यते ग्रह ग्रामैः।
ग्रहगणपतिरपि भानुभ्राम्यत्येको दुरालोकः॥ १ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा यद्यपि नक्षत्रों का स्वामी है, तथापि अमृतमय होने से-सौम्य स्वभाव वाला होने से-ग्रह भी उसकी सेवा करते हैं और सूर्य यद्यपि ग्रहों का स्वामी है, तथापि कठिनता से देखा जा सके, अथवा देखने वाला अंधा हो जाय ऐसी आकृति वाला होने से, वह अकेला ही भ्रमण करता है।

अथवा, जिसका हृदय क्रूर नहीं होता है, ऐसा मनुष्य सौम्य कहलाता है। ऐसे पुरुष को-यदि कभी उससे कोई बड़ा अपराध हो जाता है तो भी-कोई हानि नहीं पहुँचाता है। जैसा कि वीर धवल राजा ने किया था। उसका उदाहरण यहां दिया जाता है।

एक दिन राजा वीर धवल चन्द्रशाला में सोता हुआ था। वह जागता था, मगर मुँह ढके चुपचाप लेट रहा था। नौकर उसके पैर दाब रहा था। उसने, सोता समझ राजा के पैर के अंगूठे से हीरे की अंगूठी निकाल ली। राजा जान कर भी अजान की तरह चुपचाप लेटा ही रहा। दूसरे दिन

राजा दूसरी उसी तरह की अंगूठी पहन कर वही, पहले दिन ही की तरह लेट रहा।

नौकर पगचंपी करता हुआ उस अंगूठी को भी निकाल लेने का प्रयत्न करने लगा। राजा ने कहा:—"अब यह अंगूठी न निकाल। कल जो अंगूठी तू ले गया है वह तुझी को देता हूँ।"

नौकर भय से कांप उठा और रोता हुआ राजा से अपने अपराध की क्षमा मांगने लगा। उसी समय वस्तुपाल नाम का मंत्री वहाँ आ गया और सारा हाल जान कर नौकर को धमकाने लगा।

राजा ने मंत्री को कहा:—"हे मंत्री! यह दोष इसका नहीं है बल्कि हमारी कृपणता का है।" फिर नौकर से कहा:—"तू भय न कर मैं जानता हूँ कि थोड़ी आजीविका से इच्छा पूरी नहीं होती। इसलिए तुझ से अपराध हुआ है। आज से मैं तुझे पचास हजार आजीविका के लिए और एक घोड़ा सवारी के लिए देता हूँ।"

इससे वीर धवल की बड़ी प्रशंसा हुई और वह 'सेवक कल्पवृक्ष' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इससे विपरीत स्वभाव वाला यानी कठोर प्रकृति वाला मनुष्य तो हितोपदेश देने वाले से भी अप्रसन्न होता है। इसके लिए राजा लक्ष्मणसेन का उदाहरण दिया जाता है।

गौड़ देश में लक्षणावती नाम की नगरी थी। उसमें लक्ष्मण सेन नाम का राजा राज्य करता था। उसका मंत्री उमापतिधर बड़ा ही बुद्धिमान था। जैसे मदांध हाथी हथिनियों के सहवास से कीचड़ में फंस जाता है; वैसे ही वह राजा भी मदोन्मत्त गज घटा के संसर्ग से, मानो मदांध ही होगया हो इस तरह चांडालिनी के संसर्गरूपी कीचड़ में फँस गया था। यानी उसके साथ विषय सुख में लीन हो गया था। यह बात उसके मंत्री उमापतिधर को मालूम होगई थी; परन्तु वह अपने स्वामी के क्रूर स्वभाव को जानता था। इसलिए उसने प्रत्यक्ष रूप से स्वामी को समझाना अशक्य समझ अप्रत्यक्ष-रूप से स्वामी को उपदेश देने के लिए सभामंडप में निम्न-लिखित श्लोक लिखे—

शैत्यं नाम गुणस्तवैव तदनु स्वाभाविकी स्वच्छता।
किं ब्रूमः शुचितां व्रजन्त्यशुचयः स्पर्शात्तवैवापरे ॥
किञ्चातः परमस्ति ते स्तुतिपदं त्वं जीवनं देहिनां,
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः! कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः ॥३॥

भावार्थ—हे जल ! शीतलता मुख्यतया तेरा ही गुण है इसलिए तेरी स्वाभाविक स्वच्छता के लिए क्या कहा जाय ? अशुचियां तो तेरे स्पर्श मात्र ही से मिट जाती हैं । तू प्राणी मात्र का जीवन है । इससे बढ़ कर तेरी स्तुति और क्या हो सकती है ? इस तरह से तुझ में गुण हैं तो भी यदि तू नीच पथ में जाय तो तुझे कौन रोक सकता है ?

इस श्लोक में जल को संबोधन करके राजा को उपदेश दिया गया है । दूसरा श्लोक था—

त्वं चेत्संचरसे वृषेण लघुता,
का नाम दिग्दन्तिनां ।
व्यालैः कंकण भूषणानि तनुषे,
हानिर्जहेम्नामपि ॥
मूर्द्धन्यं कुरुषे जडांशुमयशः,
किं नाम लोकत्रयी—
दीपस्याम्बुजबान्धवस्य जगता
मीशोऽसि किं ब्रूमहे ॥४॥

भावार्थ—हे शंकर ! यदि तू बैल की सवारी करके फिरता है तो इससे हाथियों का क्या छोटापन है ? यदि तू

सर्पों के कंकण-भूषण बनाता है तो इससे स्वर्ण का क्या नुकसान है ? यदि तू मस्तक पर चन्द्रमा को धारण करता है तो तीन लोक को प्रकाशित करनेवाले सूर्य की इस में क्या बुराई है ? तू जगत का स्वामी है इसलिए हम विशेष क्या कहें ? अर्थात् हाथी, स्वर्ण और सूर्य के समान उत्तम साधनों के होते हुए भी यदि तू नीचों का आश्रय लेता है-उपयोग करता है तो इस में तेरी ही हेठी है।

इस श्लोक में शंकर को संबोधन करके राजा को उपदेश दिया गया है। तीसरा श्लोक था:—

छिन्ते ब्रह्मशिरो यदि प्रथयति;
प्रेतेषु सत्यं यदि ।
क्षीबः क्रीडति मातृभिर्यदि रतिं,
धत्ते श्मशाने यदि ॥
सृष्टां संहरति प्रजां यदि तथाऽ—
प्याधाय भक्त्या मनं-
स्तं सेवे करवाणि किं त्रिजगती,
शून्या स एवेश्वरः ॥५॥

भावार्थ—महादेव यदि ब्रह्मा का मस्तक काटते हैं, यदि प्रेतों में सचमुच ही प्रसिद्ध पाते हैं, उन्मत्त होकर यदि माताओं

के साथ क्रीड़ा करते हैं, शमशान से स्नेह रखते हैं और प्रजा को बनाकर उसका संहार कर डालते हैं तो भी निरुपाय क्या करूं ? क्योंकि वह ईश्वर है । उसके बिना तीनों लोक शून्य हैं । इसलिए भक्ति सहित मन को उसी में स्थापित कर मैं उस महादेवकी सेवा करता हूं । अर्थात् ऊपर जो बातें बताई गई हैं उनसे वह परिपूर्ण है तो भी वह जगत का स्वामी है इस लिये मैं लाचार उसकी सेवा करता हूं ।

इस में भी शंकर को उद्देश्य करके राजा को हित-शिक्षा दी गई है । चौथा श्लोक था—

सद्वृत्त सदगुण महार्हमहर्यमूल्य,
कान्ताबनस्तनतटोचित चारुमूर्ते !
आः पामरी कठिन कंठ विलग्न भग्न !
हाहार ! हारितम हो ! भवता गुणित्वम्॥६॥

भावार्थ—श्रेष्ठ गोल आकृतिवाले, श्रेष्ठ गुण [डोरा] वाले, योग्य, महा मूल्यवान और सुंदर स्त्रियों के पुष्ट स्तन पर रही हुई मनोहर-मूर्त्तिवाले हे हार ! मुझे सखेद आश्चर्य होता है कि, तू एक पामर स्त्री के कठोर गले में चिमट कर भग्न हुआ; नष्ट हुआ और अपना गुण-डोरा खो बैठा ।

इस श्लोक में हारको संबोधन कर राजा को उपदेश दिया गया है।

एक दिन राजा ने उन श्लोकों को देखा। उनका वास्तविक अर्थ समझा और उसी दिन से वह प्रधान से अंतरंग में ईर्ष्या रखने लगा। कहा है कि—

प्रायः संप्रति को पाय,
संमार्गस्योपददर्शनम्।
बिलून नासिकस्येव,
भवेदादर्श दर्शनम् ॥७॥

भावार्थ—जैसे नकटे को दर्पण (आइना) दिखाने से वह क्रुद्ध हो जाता है वैसे ही वर्तमान में किसी को उपदेश देने से वह भी नाराज होजाता है।

ईर्ष्यालु राजा ने मंत्री को पद-भ्रष्ट कर दिया, उसके घर बार लूट लिये और उसको पथका भिखारी बना दिया। एक दिन राजा कहीं से वापिस आया था। हाथी पर सवार था। किसी कारणवश बहुत क्रुद्ध था। उसी समय उसने दुर्दशा-ग्रस्त मंत्री को सामने आते हुए देखा और हाथी के पैरों तले उसे कुचल डालने का महावत को हुक्म दिया।

महावत ने हाथी को चढ़ाया। मंत्री एक तरफ हट गया और बोला—' महाराज ज़रा सब्र कीजिये और मैं जो कुछ कहता हूं उसे सुन लीजिये। पीछे जो जी में आवे सो करना।

राजा कुछ सोच कर उसकी बात सुनने के लिए तैयार हुआ। वह बोला:—

नग्नस्तिष्ठति धूलि धूसर वपु,
गोपृष्टि मारोहति।
व्यालैः क्रीडति नृत्यति स्ववदसृग,
चर्मोद्वहन् दंतिनः॥
आचाराद्वहिरे व मादि चरितै—
रावद्धरागो हरः।
सत्यं नोपदिशन्ति यस्य गुरव—
स्तस्येदमाचेष्टितम् ॥८॥

भावार्थ—महादेव नग्न रहते हैं, धूल धूसरित मलिन शरीर वाले बैल की सवारी करते हैं, साँपों के साथ खेलते हैं, लोहू चूते हुये हाथी के चमड़े को पहन कर नाचते हैं। ऐसे आचार-व्यवहार के विरुद्ध आचरण करते हैं और विषयासक्त रहते हैं। जिसको गुरुजन उपदेश नहीं देते हैं उसके आचरण ऐसे ही होते हैं।

राजा के हृदय में उस समय का उपदेश असर कर गया। उसने हाथी को अपने महल की तरफ ले जाने का हुक्म दिया। उसके अन्तःकरण में मंत्री के उपदेशरूपी दीपक से प्रकाश हुआ। उसे अपने आचरणों पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने व्यसन छोड़ दिये और उमापतिधर को पुनः मंत्री-पद पर स्थापित किया। उसकी सम्पत्ति वापिस उसे लौटा दी।

अब ग्रंथकार महाराज प्रस्तुत गुण विवेचन की समाप्ति करते हुये कहते हैं:—

एवं सौम्यः सुखासेव्यः
सुखप्रज्ञाप्य एव च।
यतो भवेत्ततो धर्मा—
धिकारेऽधिकृतो बुधैः ॥१॥

भावार्थ—इस तरह ऊपर दिये हुये उदाहरणों से मालूम होता है कि सौम्य पुरुष सुख से सेवा करने लायक और उपदेश देने योग्य होता है। इसीलिए पंडितों ने सौम्य पुरुष को धर्म का अधिकारी गिना है।

बत्तीसवां गुण समाप्त।

तेतीसवां गुण।

अब 'परोपकार परायणता' नाम के तेतीसवें गुण का वर्णन किया जाता है।

जो दूसरों की भलाई में लगा रहता है वह 'परोपकार परायण' कहलाता है। जो परोपकृति कर्मठ होता है वही विशेष धर्म की योग्यता प्राप्त कर सकता है। ऐसे मनुष्य को दुनियां अपनी आंखों में लगाने के लिए अमृत के अंजन समान समझता है। यानी उससे सारे प्राणियों को आनंद मिलता है। यह तृण से भी हलका गिना जाता है। कहा है कि—

> क्षेत्रं रक्षति चञ्चा,
> सौधं लोलत्पटी कणान् रक्षा।
> दन्तास्तृणं प्राणान्,
> नरेण किं निरुपकारेण ॥१॥

भावार्थ—जब चंचा पुरुष-खेत की रक्षा के लिए बनाया हुआ घास का मनुष्य-खेत को, चपल उड़ती हुई

ध्वजा मंदिर का, राख अनाज की और दांतों में लिया हुआ घास का तिनका भी प्राणों की रक्षा करते हैं, तब वह मनुष्य क्या काम का है जो किसी का उपकार नहीं करता है। अभिप्राय यह है कि तृणादि अचेतन पदार्थ भी जब परोपकार करते हैं तब प्राणियों में सर्व श्रेष्ठ मनुष्य यदि किसी के काम में नहीं आता है तो वह तृणादि से भी निकम्मा है।

परोपकार करना बड़े पुरुषों का स्वाभाविक धर्म ही होता। कहा है कि:—

उपकर्तुं प्रियं वक्तुं,
कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम्।
सज्जनानां स्वभावोऽयं,
केनेन्दुः शिशिरीकृतः ॥२॥

भावार्थ—दूसरों का उपकार करना, मीठा बोलना और अकृत्रिम स्नेह करना सज्जनोंका स्वभाव ही होता है। चंद्रमा को शीतल किसने बनाया है ?

कस्यादेशात् क्षिपयति तमः,
सप्तसप्तिः प्रजानां।
छायां कर्तुं पथि विटपिना-

मंजलिः केन बद्धः ॥
अभ्यर्थ्यन्ते नवजलमुचः,
केन वा वृष्टि हेतो-
र्जात्यै वै ते परहितविधौ,
साधवो बद्धकक्षाः ॥२॥

भावार्थ--क्या सूर्य को जगत का अंधकार दूर करने के लिये किसी ने आदेश किया था? मार्गों में छाया करने के लिये वृक्षों से क्या किसी ने हाथ जोड़े थे? या नये बादलों से बरसने के लिये क्या किसी ने प्रार्थना की थी? किसी ने नहीं। श्रेष्ठ पुरुष तो अपने स्वभाव ही से दूसरों का भला करने के लिये तैयार रहते हैं।

मनुष्य चार तरह के होते हैं। एक ऐसे होते हैं जो बगैर प्रयोजन के दूसरों की भलाई करते हैं; दूसरे ऐसे होते हैं जो उपकार के बदले में उपकार करते हैं। ये दोनों तरह के लोग धर्म के लायक समझे जाते हैं। दूसरे दो धर्म के योग्य नहीं समझे जाते हैं। कहा है कि--

ते तावत्कृतिनः परार्थनिरताः,
स्वार्थाविरोधेन ये।
ये च स्वार्थपरार्थसार्थ-घटका--

एतेऽपी नरा मध्यमाः ॥
तेऽपी मानुषराक्षसाः परहितं
यैः स्वार्थतो हन्यते ।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं, परहितं
ते के न जानीमहे ॥४॥

भावार्थ--जो अपने स्वार्थ की हानि नहीं होती तब तक परोपकार करते रहते हैं वे प्रथम दर्जे के--सत्पुरुष कहलाते हैं। जो अपने और दूसरे के स्वार्थ को साधने वाले होते हैं। वे पुरुष मध्यम दर्जे के समझे जाते हैं। जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को हानि पहुंचाते हैं वे मनुष्य रूपी राक्षस गिने जाते हैं। यानी ऐसे मनुष्य अधम दर्जे के होते हैं। मगर जो विना मतलब ही दूसरों को नुकसान पहुंचाते हैं उन्हें क्या कहना चाहिये सो हमारी समझ में नहीं आता है। अर्थात् ऐसे मनुष्यों को अधमाधम कहना चाहिये।

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरण-
व्यापार मात्रोद्यताः ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमा-
नेकः सतामग्रणीः ॥
दुष्पूरोदर पूरणाय पिबति

मूतः पति वाडवो।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजग-
त्संताप व्युच्छित्तये ॥५॥

भावार्थ—अपना पेट पालने के लिये व्यापार में उद्यम करनेवाले क्षुद्र मनुष्य हजारों हैं; मगर जो दूसरों के स्वार्थ में ही अपना स्वार्थ समझता है ऐसा सत्पुरुषों का नेता तो एक ही होता है कठिनता से भरा जा सके ऐसे पेटको भरने के लिए वडवा नल समुद्र को पीता है और मेघ, बादल, गरमी से घिरा हुआ भी जगत के संताप को—दुःख को दूर करता है।

ये दोनों उदाहरण क्षुद्र और महान मनुष्य की पहिचान के लिए बहुत अच्छे हैं।

कए वि अन्नसमुवयारजाए,
कुणंति जे पच्चुवयार जुग्गं।
न तेण तुल्लो विमलो विचंदो,
न चेव भाणू न य देवराया ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिन्होंने अनेक उपकार किये हों तो भी जो उनका उपकार करता है उसके उपकार का बदला दिये बिना नहीं रहते यानी प्रत्युपकार जरूर करते हैं ऐसे मनुष्यों की

बराबरी न विमल चंद्रमा कर सकता है, न सूर्य कर सकता है और न इन्द्र ही कर सकता है। अर्थात् उपकार करनेवालों से प्रत्युपकार करनेवाले मनुष्य इस दुनियां में उत्तमोत्तम समझे जाते हैं। ऐसे पुरुष बहुत ही थोड़े होते हैं।

उपकार द्रव्य और भाव ऐसे दो तरह से होता है। अन्न, जल आदि का दान करना द्रव्य उपकार है। यह अनिश्चित और अस्थिर होता है इसलिए यह द्रव्य उपकार कहलाता है। किसी भी कारण के बिना अपने और पराये के आत्मा को सम्यग्ज्ञान और चारित्र में स्थापन करना भाव उपकार है। जो पुरुषसिंह परोपकार करते हैं उनकी यश-भेरी की ध्वनि सब दिशाओं में फैल जाती है। इसलिए शक्ति हो तो मनुष्य को परोपकार करने का यत्न करना चाहिए। परोपकार करने से मनुष्य को धर्म होता है और उसकी, निर्मल चन्द्रमा के समान, कीर्ति दुनियां में फैलती है। जैसे कि राजा विक्रमादित्य की फैली थी। यहां राजा विक्रमादित्य का उदाहरण दिया जाता है।

एक बार राजा विक्रमादित्य जब राजोद्यान से वापिस महल में जा रहे थे तब उन्होंने किसी दरिद्री को मार्ग में दाने चुगते देखा। वे बोलेः—"जो अपना पेट भी नहीं पाल

सकते ऐसे मनुष्यों का दुनियां में उत्पन्न होना क्या काम का है ?"

दरिद्री बोलाः—"जो समर्थ होते हुए भी दूसरों का उपकार नहीं कर सकते हैं उनका दुनियां में उत्पन्न होना क्या काम का है ?"

दरिद्र की बात सुन कर राजा विक्रमादित्य ने उसे दो लाख मुहरें इनाम में दीं। परोपकार के विषय में और भी कहा है कि—

येषां न विद्या न तपो न दानं,
न चापि शीलं परोपकारः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता,
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥७॥

भावार्थ—जिन मनुष्यों में न विद्या है, न तप है, न दान है, न शील है और न परोपकारही है, वे इस मर्त्यलोक में भूमि का भार के समान हैं; वे मनुष्य के रूप में मृग-हरिण विचर रहे हैं-फिर रहे हैं।

उपर्युक्त गुणों से हीन मनुष्यों को अपनी उपमा देते देख हरिण कहता है—

स्वरे शीर्षं जने मांसं,
त्वचं च ब्रह्म चारिषु।
शृंगे योगीश्वरे दधान्—
मृगः स्त्रीषु स्वलोचने ॥८॥

भावार्थ—हरिण कहता है कि, मैं स्वर के लिए अपना मस्तक देता हूँ; मनुष्यों को खाने के लिए अपना मांस देता हूँ, ब्रह्मचारियों को बिछाने के लिए अपना चमड़ा देता हूँ, योगियों को अपने सींग देता हूँ, और स्त्रियों को अपनी आंखें देता हूँ। इस तरह मेरा सारा शरीर उपयोग में आता है; परन्तु मनुष्य के शरीर का तो कोई भी भाग किसी के काम नहीं आता। इसलिए मनुष्य को मेरी उपमा देना सर्वथा अनुचित है।

यहां विक्रमादित्य राजा का एक उदाहरण और दिया जाता है।

एक बार धीर वृत्तिवाला राजा विक्रमादित्य नदी के किनारे टहल रहा था। नदी के पूर में उसने एक ब्राह्मण को बहते हुए देखा। परोपकार परायण राजा ने अपने प्राणों को संकट में डालकर भी ब्राह्मण को बचा लिया। ब्राह्मण ने कृतज्ञता दिखाने के लिये, उसे अग्निगिरिनाम के पर्वत पर

देवता की आराधना करने से काली चित्रा बेल मिली थी, वह राजा के भेट कर दी। राजा यह बेल लेकर अपने महलों की तरफ जा रहा था। मार्ग में उसे एक दरिद्री ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया। कृपापरायण विक्रमादित्य ने यह बेल उस को दे दी।

ब्राह्मण अत्यन्त आनंदित हुआ और बोला:—'बड़े संकट से मिली हुई काली चित्र बेल मुझ जैसे भिक्षुक को दान देने वाले हे रहम दिल विक्रमादित्य! परोपकार करने में तेरी बराबरी करनेवाला इस पृथ्वी पर कोई भी नहीं है।

अचेतन पदार्थ भी उपकार करने वाले होते हैं। कहा है कि—

स्थान भूश्च खराधिरोपणशिर,—
शिचलिङ्गसंधारण।
शुष्यर्थांशुनिवेश पाद दहन,
नक्तेश भूमाद्याः क्रियाः॥
धात्रा यद्यपि चक्रिरे मृदि तथा,
छ्युर्वी-भजत्रादियं—
मात्रीभूय परोपकार इति सू—
युक्तं कुलीतं हरः॥६॥

भावार्थ--कुम्हार मिट्टी को स्थान भ्रष्ट करता है, गधे पर चढ़ाता है, उस पर कीचड़ डालता है, सूखी धूलमें डालता है, पैरों से रूँदता है चाक पर रखकर उसे घुमाता है। इस तरह कुम्हार मिट्टी को अनेक कष्ट देता है तो भी मिट्टी पृथ्वी से उत्पन्न होने के कारण बर्तन बन कर परोपकार ही करती है। कुलीन को ऐसा करना ही चाहिए अभिप्राय यह है कि मिट्टी की तरह अनेक आपत्तियां आने पर भी कुलीन मनुष्य अपने अपकारी पर भी उपकार ही करते हैं।

धूलिक्षेपनखक्षतातुलतुला-
रोहावरोहस्फुर-
ल्लोहोद्वट्टनपिंजनादि विविध-
क्लेशान् सहित्वाऽन्वहम् ॥
जज्ञे यः परगुह्यगुप्तिकृदिह,
श्रित्वा गुणैर्ख्यातितां।
कर्पासः स परोपकाररसिके—
ष्वाद्यः कथं नो भवेत् ॥१०॥

भावार्थ—धूल में गिरना, नखों से छिदना, बड़े तराजू में चढ़ना और उतरना, लोहे के चरखेमें पिलना और पिंजाना आदि अनेक प्रकार के कष्ट निरंतर सह कर सूत,—कपड़ा बन

जिस कपास से लोगों के गुह्य-गुप्त स्थान की ढका है वह कपास परोपकार में प्रेम रखनेवालोंका नेता क्यों न समझा जाय ?

जब मिट्टी आदि अचेतन पदार्थ भी परोपकार करते हैं तब चेतना रखनेवाले प्राणियों का तो कहना ही क्या है ? संपूर्ण सुरासुर की संपत्ति और मोक्ष सुख देने में कल्पवृक्ष के समान परोपकारको जिनेश्वर भगवानने सारे धर्मोंमें उत्कृष्ट धर्म कहा है। वह परोपकार द्रव्य और भाव ऐसे दो तरह से होता है यह समझ और मनुष्यों को चाहिये कि वे सभी प्राणियों पर यथोचित उपकार करें।

गरीब, अनाथ, संपत्ति हीन, भूखे और प्यासे प्राणियों पर अनुकंपा करना एवं तप, नियम, ज्ञान और दर्शन गुणों का प्रचार करनेवाले मुनियों को, भक्ति सहित, शक्ति के अनुसार शुद्ध अन्न, वस्त्रादि देकर उनका उपकार करना 'द्रव्य-उपकार' है।

दुःख से हैरान प्राणियों को ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति कराना यह 'भाव उपकार' है।

उच्च कुलोत्पन्न धीर, गंभीर प्रकृतिवाले भविष्यमें कल्याण प्राप्त करनेवाले और महा सामर्थ्यवान उत्तम प्राणी ही दूसरों

का उपकार करने में समर्थ हो सकते हैं। यह प्रसिद्ध है कि भाव उपकार करने वालों को अवश्यमेव मोक्ष सुख मिलता है। मगर द्रव्य उपकार करने वालों को भी भरत राजा की तरह निश्चय से (इस लोक और परलोक सम्बंधी) अतुल फल की प्राप्ति होती है। द्रव्योपकार करने वाले भरत राजा की कथा यहां दी जाती है।

इस-भरत क्षेत्र में तेजस्वी पुरुष रूपी रत्नों के समूह से सुशोभित लक्ष्मी से परिपूर्ण भोगवती नाम की प्रसिद्ध नगरी थी। उस नगरी के लोग सज्जन समूह को आकर्षित करने वाले, लक्ष्मी से परिपूर्ण और दान करने की इच्छा रखने वाले प्रायः पुरुषोत्तम विष्णु के समान थे। उस नगर में अपनी कीर्ति से सारे भारतवर्ष को भर देने वाला, राज लक्ष्मी रूपी लता को पुष्ट करने में मेघ के समान, परोपकार रसिक, अति उदारता से कल्पवृक्ष को भी जीतने वाला और निश्चल धैर्य और अभ्युदय से समग्र पृथ्वी मंडल को उज्वल करने वाला, भरत नामका राजा राज्य करता था। उसके अपने रूप से देवांगनाओं का भी तिरस्कार करने वाली और सारे अन्तः-पुर में श्रेष्ठता का उपभोग करनेवाली सुलोचना नामकी रानी थी। उनके पृथ्वीरूपी कमलिनी को आनन्द देने में

चंद्रमा के समान, नीति संपन्न और विनयवान महाचंद्र नाम का पुत्र था।

एक दिन भरत राजाने भूयल आदि कार्य कुशल मंत्रियों को बुला कर कहा:-तुम्हें हमेशा सारे कामों में चिरंजीवी महीचंद्र को प्रमाण भूत मानना चाहिये। यानी इसकी सलाह के बिना कोई भी राज्य काम नहीं करना चाहिये। तुम सभी असाधारण पराक्रम और बुद्धि वाले हो इसलिए इस पुण्यशाली पुत्र को साथ में रख कर भले प्रकार से राज का काम चलाओ। मेरे पास बहुत सम्पत्ति है इसलिए मैं दीन एवं अनाथों की सहायता करता हुआ हमेशा सुखपूर्वक दिन बिताऊंगा। कहा है कि -

> याचमानजनमानसवृत्तेः
> पूरणाय बत जन्म न यस्य।
> तेन भूमिरिह भारवतीयं,
> न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥११॥

भावार्थ---जिसका जन्म याचक लोगोंकी मनोवृत्तिको पूर्ण करनेके लिये नहीं है वह मनुष्य पृथ्वी भाररूप है. वृक्ष, पर्वत और समुद्र पृथ्वीके लिए भाररूप नहीं है. अभिप्राय यह है कि सामर्थ्य होते हुए भी जो मनुष्य याचकोंको नहीं देते हैं, परोपकार नहीं

करते हैं वे पृथ्वी के लिए भाररूप हैं।

पैसे से अथवा प्राणों से भी दूसरों का उपकार करना ही चाहिए। परोपकार से जो पुण्य उपार्जन किया जाता है वह सैकड़ों यज्ञों से भी अशक्य है।

इस तरह मंत्रियों को कह पुत्र को राज्य भार सौंप योग्य उपदेश दे आप परोपकार करने के कामों में लगा।

एक दिन उसने अनेक तरह की आधिव्याधियों से पीड़ित और नाना भांति से मृत्युरूपी सिंह के मारा बनते हुए मनुष्यों को देखा और उनके दुःख से उसका अंतःकरण विचिलित हो गया और वह मन में सोचने लगा।

'मैं अपने पूर्व पुण्य के उदय से राजा हुआ हूं। मेरे पास विलास की सभी सामग्रियां हैं, हाथी घोड़े रथ, सवार प्यादे वगैरा सभी तरह की राज्य-लक्ष्मी मौजूद है। मगर जब अत्यन्त दुःख से पीड़ित प्राणियों की सहायता करने का मुझ में लेशमात्र भी सामर्थ्य नहीं है,तब मेरे यह तीन वर्ग की संपत्ति निकम्मी सी ही है। कारण,पीड़ितों के दुःखों को दूर किये बिना महापुरुषों के लिए साम्राज्य के बड़े विलास साधन भी बे फायदा ही हैं। जो राजा आर्त्त-दुखी मनुष्यों के दुःख नहीं मिटा

सकता है वह घासफूस के मनुष्य से भी गया बीता है।"

राजा के मन में से गर्व बिलकुल जाता रहा था। वह रात के समय जब सोने के लिए अपने महल में गया तब उस ने अपनी विशाल शय्या में सोये हुए एक दिव्य आकृतिवाले पुरुष को देखा। उसके पास ही अच्छे सोने की अपनी ज्योति से सारे शयनागार को प्रकाशित करती हुई एक गोली देखी। राजा ने ज्योंहीं उस गोली को उठाया त्यों हीं सोया हुआ पुरुष जाग उठा और ऊपर उड़ा मगर वापिस जमीन पर आ पड़ा और भयभीत दृष्टि से चारों तरफ देखने लगा। उसको डरा हुआ देखकर प्राणियों की रक्षा करने का संकल्प करने वाले राजा भरत ने उसे आश्वासन देते हुए पूछा:—

'तू कौन है ? कहां से आया है ? तेरा आचरण ऐसा क्यों है ?'

उस पुरुष ने जवाब दिया:—"हे दयालु राजा ! मेरा नाम अनंगकेतु है। मैं यहां से बहुत ही दूर रहता हूं। मुझे गुटिका की सिद्धि मिली है। इस से मैं आकाश में उड़कर इच्छानुसार जा सकता हूं। मैं श्रीपर्वत पर आकाश मार्ग से जा रहा था। थकान मालूम हुई। यहां आपकी शय्या बिछी हुई देखी। इस-लिए थकान उतारने के लिए बे सोचे समझे ही आकर सोगया।

अभी नींद न आई थी कि आप आगये, आशा है आप मेरे अपराध क्षमाकर मुझे जीवन-दान देंगे।

राजा ने मधुर स्वर में कहाः—'हे भाग्यवान पुरुष! तू सुख से शय्या पर सोजा। मैं तेरे को पंखा करूंगा। जब तेरी थकान उतर जाय तब तू अपने निश्चित स्थान पर चला जाना।"

वह बड़ा प्रसन्न हुआ। राजा के चरणों में नमस्कार कर वह सिद्ध पुरुष बोलाः—"हे विश्व के आधार महाराज आप देवताओं के लिए भी वंदनीय हैं। सारे गुणों में परोपकार सब से श्रेष्ठ गुण है'। वह तुम्हारे अंदर पूर्णरूप से विकसित हो तीन लोक में अपनी आभा फैला रहा है, हे नृपति शिरोमणि! आपने मुझे जीवन-दान दिया है इतना ही नहीं मुझ पर इतनी कृपा कर रहे हैं। मैं आपके इस ऋण से कैसे छूटूंगा।"

उसके विनयपूर्ण वचन सुन स्नेह युक्त हृदयवाले राजाने असाधारण आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली गुटिका उस पुरुष को दे दी।"

उस सिद्ध पुरुष ने नम्र शब्दों में कहाः—"हे राजन! मुझ पर प्रसन्न होइए और यह गुटिका आप अपने पास ही रखिए।

राजा बोलाः—" हे कुलश्रेष्ठ शिरोमणि ! मैं किसी से कोई चीज नहीं लेता फिर तुम्हारे पास से, यह गुटिका गोली कैसे ले सकता हूं ? मगर हे पंडित ! यह गुटिका बड़ी ही आश्चर्योत्पादक और महिमावाली है। इसलिए मुझे बताओ कि यह कहांसे और कैसे प्राप्त हो सकती है ?"

राजा के वचन सुनकर वह सिद्ध पुरुष बोलाः—" हे राजाओं के मस्तकोंसे सुशोभित चरणवाले महाराज ! सुनिये दक्षिण में मलयाचल नामक एक पर्वत है। उसका शिखर बहुत ही ऊंचा है। उस पर एक बाग है। जिसमें सब ऋतुओं में प्रफुल्लित होनेवाले फूलों की बेलें और पौदे शोभा दे रहे हैं। उसमें रत्नशेखर नाम का मंदिर है। उसे देखकर जगत को आश्चर्य होता है। उसमें जो देव हैं उनके स्नान का जल बहुत गरम, हाथ जल जाय ऐसा निकलता है। उस जल को जो साहसी मनुष्य छः महीने तक प्रति दिन विधि सहित अपने हाथ में झेलता है उसको इस तरह की स्वर्ण गुटिका मिलती है। ऐसी गुटिका लेने के लिये अनेक पुरुष वहां जाते हैं, परन्तु मिलती है वह किसी पुण्यात्मा पुरुष ही को।"

राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। सिद्ध पुरुष को उसने आदर के सहित वहां से विदा किया। फिर राजा शय्या पर सो गया

जब आधी रात बीत गई तब राजा उठा। उसने वेष बदला और तलवार हाथ में लेकर वह वहांसे चुपचाप चल निकला। पराक्रमी, तलवार के धनी, कल्याणकारी महापुरुषों की गति का अनुसरण करने वाले और हर तरह से निपुण राजा के परिवार के लोग एवं राज्य के कामकाज करनेवाले आदमी भी उसका जाना न जान सके। इस्ति समान राजाओं में केशरीसिंह के जैसा वह भरत राजा अपने दिव्य महलों से चला।

अनेक दिन मार्ग में बीते। धूप, सर्दी आदि की परवाह किये बिना राजा उत्साह के साथ ताप को दूर करनेवाले मलयाचल पर्वत पर पहुंचा। चंदन और कल्पवृक्षादि से सुशोभित उपवन के अंदर गया और जाकर रामशेखर देव के मंदिर के जीने पर बैठा।

फिर बावड़ी में स्नानकर, शुद्ध वस्त्र पहिन, कमल के पुष्प ले सज्जनों को प्रीति उत्पन्न करनेवाले और इन्द्रियों को जीतनेवाले उस राजा ने पूजा करने के लिए मंदिर में प्रवेश किया। निष्कपट भाव से पूजा कर जब वह स्नान का जल लेने के लिये प्रयत्न करने लगा। राजा ने देखा कि उस जल के चारों तरफ अनेक लोग फिर रहे हैं और हा हू कर रहे

है, परन्तु अग्नि के समान जलते हुये पानी को हाथ में मेलने का किसी का साहस नहीं होता है।

राजा ने कुतूहल के साथ पूछाः—"तुम कितने हो और कब से यहां हो?"

उन्होंने जवाब दियाः—"हम एक सौ आठ हैं और अनेक दिनों से यहां हैं।"

"ऐसी बातों से और कोलाहल से क्या काम चलता है?" ऐसे कहते हुये राजा ने जलधार के नीचे अपना हाथ बढ़ाया। अग्नि शिखाके समान जलधार बहुत देर तक राजा के हाथ पर पड़ती रही, हाथ जलता रहा; परन्तु वह बिल्कुल न घबराया। देव इससे प्रसन्न हुआ। राजा के हाथ की जलन बिलकुल मिट गई और देव ने प्रसन्न होकर राजा को स्वर्ण गुटिका दे दी। कहा है किः—

रथस्यैकं चक्रं भुजगदामिताः
सप्त तुरगाः।
निरालंबो मार्गश्चरणविकलः
सारथिरपि॥
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपा-
रस्य नभसः।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां,
नोपकरणे ॥१२॥

भावार्थ—एक पहिए का रथ, सर्पों के वश किये हुए, सात घोड़े, आलंबन रहित मार्ग और पंगु सारथि होने पर सूर्य हमेशा अपार आकाश को पार कर जाता है। इससे साफ़ मालूम होता है कि महान पुरुषों की कार्यसिद्धि उनके पराक्रम रहती है साधनों में नहीं।

अभिप्राय यह है कि यद्यपि सूरज के साधन निर्मल है तो भी वह अपने बल से आकाश का अन्त लेता है। इसी तरह बलवान पुरुषों को भी अपने बल ही से अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए। साधन तो केवल निमित्त मात्र होते हैं। शक्तिहीन मनुष्य कितने ही साधनों के होते हुए भी जब कोई काम आ पड़ता है तो वह घबरा जाता है। साधन उसके लिए बोझा ही जाते हैं। वह काम को पूरा नहीं कर सकता है। सचमुच ही कार्य शक्ति से सिद्ध होता है साधनों से नहीं।

राजा ने सोचा बिचारे ये लोग सब मनोरथ दुखी होंगे; हो रहे हैं। मैं गुटिका लेकर चला जाऊँगा तो अनुचित होगा। यह सोच कर उसने वह गुटिका उनमें के एक आदमी को दे दी। फिर दूसरी के लिए उसने यत्न किया। दूसरी गुटिका

मिली। परोपकार करते तृप्त न होनेवाले राजा ने दूसरी गुटिका भी दूसरे आदमी को दे दी।

फिर तीसरी गुटिका प्राप्त करने के लिए यह प्रयत्न करने लगा। उसने निश्चयकर लिया था कि इन १०८ की गुटिकाएं प्राप्त कर दूँगा तभी यहां से जाऊँगा। इस बार उसकी उँगलियां भुलसी हुई थीं। अग्नि रस के समान तेज जल से उसके हाथ में बहुत ज्यादा जलन हो रही थी; परन्तु परोपकार का भाव उसको स्थिर बनाए हुए था।

वात्सल्य करने में कल्पवृक्ष के समान गगनशेखर देव राजा पर बहुत प्रसन्न हुआ और प्रकट होकर बोलाः— "हे प्रजाप्रिय राजा ! मैं प्रायः छः महीने तक जो पुरुष यह जल झेलता है उसी को मैं यह गुटिका दिया करता हूँ; परन्तु मैंने तुझे एक ही दिन में दो गुटिकाएं दीं और तूने दोनों ही निःसंकोच भाव से दूसरों को दे दीं। इसलिए हे धीर पुरुषों की धुरा को धारण करने वाले राजा ! मैं तेरी अपूर्व उदारता से बहुत प्रसन्न हुआ हूं। बोल तुझे क्या चाहिये ? मैं तेरी इच्छा पूरी करूंगा।"

राजा ने नम्रता पूर्वक देव के चरणों में नमस्कार किया और कहाः— "हे देव ! कहां तुम और कहां मैं ! कहां तुम

जगत के पूज्य और कहां, मैं एक सामान्य मनुष्य ! तो भी आपने मुझ पर प्रसन्न होकर दर्शन दिये हैं और मुझे इच्छित फल देने का अभिवचन दे कर मुझे भाग्यशाली बनाया है। यह आपकी अत्यन्त कृपा है। मैं यह चाहता हूं कि, आपकी सेवा में इतने मनुष्य कई दिनों से पड़े हैं उनको एक एक स्वर्ण गुटिका देकर इनका दुःख मिटाइए। मैं और कुछ नहीं चाहता हूं।"

राजा की याचना से तुष्ट होकर देव ने सभी को एक एक गुटिका दी। भरत राजा को भी एक गुटिका दी और सबको यहां से विदा किया। सभी आकाश मार्ग से उड़कर अपने अपने घर गये।

राजा भी आकाश मार्ग से जाता हुआ महाराष्ट्र के अलंकार रूप रिष्टपुर नामक नगर के उद्यान में उतरा। वहां उसने भव्य प्राणियों के समूह को धर्ममार्ग का उपदेश करते हुए, आत्म-रमणता में प्रीति करनेवाले मुनियों से सेवित, प्रकाश करनेवाले उत्तम ज्ञान के धारी, रोगरहित, और सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाले सूरीश्वर को देखा। राजा को बड़ा हर्ष हुआ। प्राणियों के आधारभूत, श्रेष्ठ विचार

वाले और प्रकृति से भद्र परिणामवाले उस राजा ने सूरि को नमस्कार किया। राजा उचित स्थान पर बैठ गया। वहां बैठे हुए लोगों ने राजा को आकाश मार्ग से उतरते देखा था इसलिए उन्हें बड़ा अचरज हुआ, सूरीश्वर ने राजा को निम्न-लिखित उपदेश दिया:—

चिन्तारत्नं मणीनामिव द्विपनिकरे,
सिन्धुराणां प्रशस्या-
मिन्दुः कल्लोलिनीनां सुरसरिदपर-
स्वमाधरः पर्वतानां।
कल्पद्रुः पादपानां हरिरमृतभुजां,
चक्रवर्ती नराणाम्।
धर्माणामन्यजन्तूपकृतिरपि तथा,
राजते सुप्रचारे ॥१२॥

भावार्थ—मणियों में चिन्तामणि रत्न, हाथियों में ऐरावत हाथी, ग्रहों में चंद्रमा, नदियों में गंगा नदी, पर्वतों में मेरु पर्वत, वृक्षों में कल्पवृक्ष, देवताओं में विष्णु और मनुष्यों में चक्रवर्ती जैसे अच्छा शोभता है वैसे ही धर्मों में भी परोपकार धर्म उत्तमोत्तम लगता है-सुशोभित होता है।

इस तरह आचार्य का इष्ट उपदेश सुन प्रसन्न चित्त राजा ने 'यथोचित उपकार' धर्म को ग्रहण किया। वहां से राजा नगर में फिरने को निकला। उसने देखा कि, एक उत्तम शरीरवाले पुरुष को सिपाही लोग वध भूमि की तरफ ले जा रहे हैं। उसने सोचा मेरे देखते किसी को प्राण दंड देने के लिए ले जायें यह तो ठीक नहीं है। यह मन में कुछ स्थिर कर सिपाहियों के पास जाकर आकाश में उड़ा। सभी आश्चर्य से ऊपर की तरफ देखने लगे। सहसा राजा नीचे उतरा और उस वध होने वाले पुरुष को पकड़ कर वापिस आकाश में उड़ गया। सब देखते ही रह गये। राजा उस पुरुष को अपने सात खंडवाले राज भवन में ले गया।

राजा का आगमन सुन कर लोग फूले न समाये। राजा के अचानक चले जाने से सब के मन मुर्झाये हुए थे। उसके आते ही वे प्रसन्न हो गये। युवराज राजमंत्री और दूसरे सभी अधिकारियों ने और नगर निवासियों ने भी आकर राजा के दर्शन किये और अपने को धन्य माना।

राजा जब आवश्यक कृत्य करने की तैयारी करने लगा तब मंत्री ने अवसर देख, हाथ जोड़ नम्रतापूर्वक पूछा:— "हे देव! आपने इतने समय तक किस काम के लिए किस

दिशा को पवित्र किया सो कृपा कर हमें बताइये और हमारे आनंद में वृद्धि कीजिये।'

राजा को बड़ा संकोच हुआ। वह सोचने लगा कि, मैं अपनी तारीफ अपने मुंह से कर कैसे पाप का भागी बनूं। इतने ही में किसी एक रूपवान पुरुष ने, एक देदीप्यमान मोतियों का हार राजा के भेट किया।

राजा ने पूछाः—'तू कौन है? और यह हार मुझे देने का क्या कारण है? साफ साफ कह।'

वह बोलाः—'महाराज! गुणरूपी लक्ष्मी से सुशोभित होनेवाले इस हार को आपके अर्पण करने का क्या कारण है सो मैं सविस्तार बताता हूं। आप ध्यान पूर्वक सुनिए।

सिंहल द्वीप में रत्नपुर नाम का नगर है। उसमें पवित्र गुणरूपी रत्नों का आधार रत्नप्रभ नाम का राजा है। उसके विलास करती हुई विजया-सिद्ध के समान उज्वल और विकसित होते हुए शीलरूपी रत्न को धारण करनेवाली पार्वती के समान रत्नवती नामकी भार्या है। उस कोमल हृदयवाली रानी ने गुरु महाराज के पास हर्ष के साथ अष्टापद पर जाकर

देववंदन करने की महिमा सुनी । विवेकरूपी आम्र वृक्ष के लिए मैना के समान, जिनेन्द्र को नमस्कार करने की इच्छा वाली दृढ़ निश्चयी रानी ने निश्चय किया कि जब तक मुझे दर्शन न होंगे तब तक मैं घी आदि विगय न खाऊंगी ।

अष्टापद पर विद्याधर और देवता ही जा सकते हैं, भूमिचारी मनुष्य नहीं जा सकते, इसलिए यह प्रतिज्ञा पूर्ण होना बड़ा ही कठिन है, इस तरह जानती हुई राज वल्लभा बार बार कहा करती उन विद्याधरों और देवों को धन्य है कि जो आकाश में उड़ सकते हैं एवं तीर्थयात्रा करके अपने आत्मा को पवित्र बनाते हैं । तीर्थ यात्रा किये बिना मेरा आत्मा तो हमेशा अकृतार्थ ही रहा ।

इस तरह चिन्ता करती हुई रानी रात दिन दुखी रहने लगी । अपनी प्रिया के दुःख से राजा भी उदास रहने लगा । मंत्रियों को यह बात मालूम हुई । उन्होंने राजा को महाराज इसके लिए विशेष चिन्ता न कीजिए । कह कर रामशेखर देव का आश्चर्यकारी वर्णन सुनाया । उसे सुन राजा अपने मुख्य मंत्री को राज्य का भार सौंप कर आप गुटिका लेने के लिए रामशेखरदेव के मंदिर पर चला गया ।

हे प्रजापति ! पराक्रम का स्थान और परोपकार करने में जागरूक कोई महापुरुष वहां पहुंचा। उस पराक्रम रूपी क्रीड़ामें विलास करनेवाले और साहसी महापुरुष ने एकही दिन में गुटिकाएँ प्राप्त कीं और वहां आये हुए सभी मनुष्योंको, उसने गुटिकाएँ दानरूपसे देदीं। दानियों में प्रधान उस नररत्न ने एक गुटिका मेरे स्वामी रत्नप्रभ नरेंद्र के भी अर्पण की। उसे लेकर हमारे स्वामी कृत्य २ हुए और वापिस तत्काल ही अपने नगर में आये। अपना कार्य सिद्ध होने के बाद कोई भी उत्तम विचारवाला पुरुष कहीं भी विलंब नहीं करता है।

फिर उस गुटिका से महासती रत्नवती का अष्टापद की यात्रा करने का मनोरथ पूर्ण हुआ। इससे उस अवसर पर धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग से विकसित होता हुआ नागरी का सारा जन समुदाय आनंदित हुआ और इसके लिए निष्कपट भावों से नगर में धर्म सम्बन्धी बधाइयां बांटी गई।

उसके बाद रानी रत्नवती ने, यह सोच कर कि, आकाश मार्ग में गमन करने की शक्तिवालों के सिवाय इस तरह के अभिग्रह का पूर्ण होना कठिन है, नगर के बाहिर एक 'अष्टापद अवतार' नाम का मंदिर राजा को कहकर लोगों की यात्रा सिद्धि के लिए बनवाया। उसके चकाचौंध पैदा करने

वाले चार दर्वाजे हैं। रंग और प्रमाण आदि से वर्णन करने लायक जिनेश्वर भगवान की प्रतिमाएँ उसमें विराजमान हैं। उसका शिखर बहुत ऊँचा है। मंदिर ऐसा सुंदर है कि लोग आनंद से उसको देखते ही रह जाते हैं।

एक दिन आकाश में विहार करनेवाले चारण मुनि जिनेश्वर भगवान के दर्शन करने की इच्छा से नीचे उतरे। प्राणियों को हित पहुँचाने वाले उन मुनियों से हमारे महाराज ने सविनय पूछा:—"जगत में हमेशा उन्नति और परोपकार करने वाला वह कौन पुरुष है जिसने बिना ही कारण के राम शेखर देव के मंदिर में आश्चर्यकारक और आकाश मार्ग से गमन करने में असाधारण शक्ति बताने वाली गुटिका मुझे दी?"

इसके उत्तर में अति आश्चर्यकारक, आनंदजनक और यथार्थ ऐसा आपका चरित्र, हे भरत भूपति! मुनीश्वरों ने राजा को कह सुनाया। उसको हमारे महाराज ने आदर के साथ सुना और ज़हर को दूर करनेवाला यह हार, कृतज्ञता प्रकट करने के इरादे से, आपकी भेंट में भेजा है। हे जगत के प्राणियों को आनंद देनेवाले महाराज! प्रसन्न होइए और इस हार को ग्रहण करने की हम पर कृपा कीजिए।

भरत राजा ने उसके विनय युक्त वचन सुने और प्रसन्न होकर कहा—'उस राजा की कृतज्ञता धन्य है! उसकी लोकोत्तर स्थिति धन्य है! कि जिसने मेरे थोड़े से उपकार को भी मेरु पर्वत सा बड़ा माना है और जिस बुद्धिमान एवं शिरोमणि ने यह महा महिमामय हार मेरे पास भेजा है। मगर मैं इसको कैसे ग्रहण कर सकता हूं? क्योंकि जो पुरुष किसी पर उपकार करके उससे प्रति उपकार की आशा रखता है, वह उपकार में अपने आत्मा को निःसत्व पुरुषों की पंक्ति में बिठा देता है। इसके लिए कहा है कि—

इयमुच्चधियामलौकिकी,
महती काऽपि कठोरचित्तता।
उपकृत्य भवन्ति दूरतः
परतःप्रत्युपकार शंकाया ॥१४॥

भावार्थ—उन्नत ऊंची बुद्धिवालों के मनकी कठोरता कुछ अलौकिक और बड़ी मालूम होती है कि, वे उपकार कर के इस ख्याल से दूर हटजाते हैं कि, कहीं उन्हें प्रत्युपकार न लेना पड़े। यानी वे जिस मनुष्य पर उपकार किया होता है उससे दूर रहते हैं। कारण, उन्हें यह भय रहता है कि वह कभी मेरे उपकार का बदला न देने को तैयार होजाये।

इसलिये हे उत्तम पुरुष मैं इस हार को नहीं ले सकता।

उसको संतुष्ट कर राजाने वापिस विदा किया। वह अपने मालिक के पास गया।

एक दिन राजा ने उस पुरुष से जिसको वे अरिष्टपुर से छुड़ा लाये थे उसका हाल पूछा। उसने इस तरह से अपना हाल सुनाया—

मैं कथक हूं। और पाराशर नाम से प्रसिद्ध हूं। कथा कह के गुजर चलाना मेरा धंधा है। मैं राजा का सेवक और अनेक शास्त्रों का जानने वाला हूं। देवताओं के आदेश से मैं जो कथा कहता हूं वह अत्यंत आश्चर्य करनेवाली और सत्य होती है। यानी जैसे मैं कथा कहता हूं वैसे ही होता भी है।

एक बार राजा का लड़का बीमार था। मैंने राजा की आज्ञा से मंत्र-अनुष्ठान किया। मगर दैव की गति बड़ी ही विचित्र है, कि राजा का लड़का मर गया। इससे मेरी बड़ी निंदा हुई। राजा ने कुपित हो, यह सोच कि इसने ही राजकुमार को मार डाला है, मुझे जल्लादों के हाथ में सौंप

दिया। आपने दया करके मेरे प्राण बचाये। अब मैं आपके आधीन हूं।"

राजा को बड़ा कुतूहल हुआ। उसने कहा—"तू मुझे कोई आश्चर्यजनक कथा कह सुना।"

राजा के आदेश का आशय समझ, पाराशर ने नीचे लिखी यथार्थ कथा कही—

गांधार देश में वृद्धि पाती हुई संपत्ति से स्वर्ग को भी अपना सेवक बनाने वाला गंधार नामका नगर था। वहां विरोचन नामका एक कुलपुत्र था। उसके जगत की अंबा के समान अंबा नामकी स्त्री थी। परस्पर के प्रेम-सागर में निमग्न राजसेवा से पराधीन वृत्तिवाले उस दम्पति का कुछ काल आराम से बीता।

एक बार विरोचन को चोरों ने मार डाला। जिससे वह मनोहर नंदिग्राम में एक ब्राह्मण के घर पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। उसका नाम दामोदर रक्खा गया।

वह जब बड़ा हुआ और जिस दिन उसको जनोई देने का उत्सव हो रहा था, उसी दिन उसकी पूर्व भव की भार्या

शंखा, अपने पति की हड्डियां गंगामें डाल फिरती हुई दैवयोग से वहां आगई। उसने ब्राह्मणों से मंगलभूत बने हुये दामोदर को देखा। दामोदर ने भी इसी तरह उसे देखा। दोनों का एक दूसरे का पूर्व भव का अस्खलित-स्थिर प्रेम उच्छ्वसित हुआ-उमड़ आया। कहा है कि—

> यं दृष्ट्वा वर्द्धते स्नेहः,
> क्रोधश्च परिहीयते।
> स विज्ञेयो मनुष्येण,
> एष मे पूर्व बांधवः ॥१५॥

भावार्थ—जिसे देख कर स्नेह बढ़ता है और क्रोध नाश होता है उसके लिए मनुष्य को जानना चाहिये कि, यह मेरा पूर्व भव का सम्बंधी है, बंधु है।

दोनों का स्नेह संभाषण होने लगा। इससे दामोदर को जाति स्मरण ज्ञान हुआ। उसने शंखा को पहिचान लिया और वह एक टक उसकी तरफ देखता रह गया। ब्राह्मणों ने यह सोच कर कि इस स्त्री के संसर्ग से दामोदर का कुल कलंकित होगा, उसकी दृष्टि हटाने का प्रयत्न किया; परन्तु

दामोदर ने ध्यान नहीं दिया। इसलिये ब्राह्मणों ने शंवा को जबर्दस्ती वहां से निकाल दी। वह चिल्लाती हुई वहां से चली गई। मगर दामोदर अतृप्त नयनों से वहीं देखता रहा। धीरे धीरे उसकी आंखें पथरा गईं और दामोदर गिरकर मर गया।

दामोदर मरकर वन में हरिणरूप से जन्मा। उसने वहां फिरती हुई शंवा को देखा। वहां भी उन दोनों के आपस में वैसी ही प्रीति उत्पन्न हो गई। हरिण निर्भय होकर उसके पीछे फिरने लगा और वह उसको स्नेह से रखने लगी। एक दिन किसी क्रूर मनुष्य ने हरिण को मार डाला।

विरोचन का जीव हरिण से बंदर हुआ। वहां भी उसने शंवा को देखा और उनके मन में स्नेह उत्पन्न हुआ। बंदर शंवा को फल फूल आदि लाकर खिलाता और दोनों स्नेह से रहते। एक दिन पत्थर मार २ कर बंदर को लोगों ने घायल कर दिया। वह मरकर बनारस के पास एक गांव में जन्मा। उसका नाम दिन्न रक्खा गया।

दिन्न एक दिन दक्षिणा प्राप्ति की आशा से बनारस जा रहा था। मार्ग में उसने अनशन व्रत धारिणी कृश शरीरा

शंबा को देखा। उसने उससे उसका हाल पूछा। शंबा ने अपना सारा हाल सुनाया। उसे ऐसा जान पड़ा कि उसने ये सारी बातें पहले सुनी हैं। सोचते सोचते उसे जाति स्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे उसको संसार का डर लगा, उत्तम विचार आये और वैराग्य उत्पन्न होगया। वह कुटुम्ब कबीले का मुँह छोड़, सारा लोभ त्याग अनशन व्रत धारणकर वहीं प्रभु का स्मरण करने लगा और मर कर एक राजा के घर जन्मा। वही ब्राह्मण है राजा! तुम हो।

इस तरह पाराशर से अपने पूर्वभव का सारा विस्मय-कारी वृत्तांत सुन राजा कुछ देर तक विचार में पड़ा। विचार करते २ उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उसने उससे देखा कि ब्राह्मण की कही हुई सारी बातें ठीक हैं।

संसार की असारता को देख, राजा ने संवेगरूपी अमृत का पान किया। फिर धर्म करने के लिए तैयार राजा ने अपने सारे देश को कैलाश के समान जिन मंदिरों से भूषित किया। दान देकर दीन, अनाथ, मनुष्यों के दुःख दूर किये। ये सारे काम उसने निदान किता किये थे, अर्थात् ऐसी आशा वगैर किये थे कि इन पुण्य कार्यों से मुझे अमुक फलकी प्राप्ति हो।

फिर परमार्थ साधन में कारण भूत पाराशर को अतुल संपत्ति देकर प्रसन्न किया अपने पुत्र महीचंद्र को बहुत बड़ा उत्सव करके राज्य गद्दी पर बिठाया और आपने युगंधर नामक आचार्य के पास से दीक्षा ले ली।

साधुओं के साथ अतिचार रहित चरण सत्तरी, करण सत्तरी और मन, वचन, कायके योग से आत्मस्वरूपका साधन करते हुए समाधिपूर्वक मरकर राजर्षि भरत शार्हवें देवलोक में इंद्रके समान विभूतिवाली सुख संपद् का उपभोग करने लगा। वहां से चव दो तरह से बड़े राज्यकी पृथ्वी को धारण करना रूप महान लक्ष्मी को, अथवा साधुओं को क्षमा (शांति) को धारण करना रूप महान लक्ष्मी को प्राप्त कर अनुक्रम से ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी लक्ष्मीवाला वह मोक्ष वधू का स्वामी होगा।"

अब प्रस्तुत गुणका उपसंहार करते हुए ग्रंथकार महाराज परोपकारकी प्रधानता प्रगट करते हुए यह बताते हैं कि परोपकारी पुरुष ही विशेष धर्मका अधिकारी होता है।

ज्येष्ठः पुमर्थेषु सदैव धर्मो,
धर्मे प्रकृष्टश्च परोपकारः ॥

करोति यैश्चनमनन्यचेताः
सधर्मकर्मण्यखिलेऽधिकारी ॥१६॥

भावार्थ—धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ में धर्म पुरुषार्थ ही हमेशा बड़ा होता है। धर्म में भी परोपकार उत्कृष्ट है। जो मनुष्य एक चित्त होकर इसको–परोपकार–को करता है वह सारे धर्म कार्यों का अधिकारी होता है।

श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी, अंबाला शहर

की

नियमावली ।

१–इसका मेम्बर हर एक हो सकता है ।

२–फीस मेम्बरी कमसे कम २) वार्षिक है, अधिक देने का हर एकको अधिकार है, फीस [illegible] एक साथ सोसायटी को ५०) देंगे [illegible] समझे जावेंगे । वार्षिक चन्दा उनसे कुछ नहीं लिया जावेगा ।

३–इस सोसायटी का वर्ष १ जनवरी से प्रारंभ होता है जो महाशय मेंबर होंगे व चाहे किसी महीने में मेम्बर बनें, चन्दा उन से ता० १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक का लिया जावेगा ।

४–जो महाशय अपने खर्च से कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर विना मूल्य वितरण कराना चाहें उनका नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जावेगा ।

५–जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी व हर एक मेंबर के पास विना मूल्य भेजे जाया करेंगे ।

सेक्रेटरी

श्राद्ध गुण विवरण ॐ

सतरहवां भाग।

श्री वीतरागायनमः ।

श्राद्ध गुण विवरण

बारहवां भाग

ट्रैक्ट नं० ६१

अनुवादक–

श्रीयुत बाबू कृष्णलालजी वर्मा

प्रकाशक–

मंत्री–श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी,

अंबाला शहर ।

वीर संवत् २४५३ | आत्म संवत् ३२ | मूल्य ॥) | विक्रम संवत् १९८४ | ईस्वी सन् १९२७

श्री वीतरागाय नमः ।

श्राद्ध गुण विवरण

——ෆ෴ෆ——

बारहवां भाग।

चौतीसवाँ गुण।

अब 'अन्तरंगारि षड्वर्ग का त्याग करना' नाम के चौतीसवें गुण का वर्णन किया जाता है।

काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये छः अन्तरंग के भावों के शत्रु हैं। जो पुरुष इनका परिहार करने में यानी इनका त्याग करने के लिए तत्पर होता है वह अन्तरंगारि षड्वर्ग का त्याग करने वाला कहलाता है। और वही गृहस्थ धर्म के योग्य भी होता है। जो काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष अनुचितरूप से उपयोग में आते हैं वे सद्-गृहस्थों के अंतरंगारि षड्वर्ग-छः भाव शत्रु गिने जाते हैं। कहा है कि—

कामः क्रोधस्तथा लोभो,
हर्षोमानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनं,
तस्मिंस्त्यक्ते सुखी भवेत् ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान व मदरूपी षड्वर्ग का त्याग करता है वह सुखी होता है।

अर्थात् कामादि भाव शत्रु ही प्राणीमात्र को चतुर्गति संसार में परिभ्रमण कराते हैं-भटकाते हैं और उन गतियों के भयंकर दुःखों का भाजन बनाते हैं। इसलिए विचारवान् पुरुषों को चाहिये कि वे ऊपर कहे हुए छः शत्रुओं के संसर्ग से बचने का प्रयत्न करें।

काम।

यहां पहले काम रूपी शत्रु का वर्णन किया जाता है। दूसरों की अंगीकार की हुई अथवा बगैर ब्याही स्त्रियों के लिए दुष्ट भाव रखने का नाम 'काम' है। यह काम रावण, साहसगति, और पद्मनाभ आदि की तरह विवेक एवं राज्य का नाश करा पुरुष को नरक में डालने का कारण बनता है। कहा है कि—

तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं,
कुलीनत्वं विवेकिता ।
यावज्ज्वलति चित्तान्त—
र्ने पापः कामपावकः ॥२॥

भावार्थ—बड़प्पन, पंडिताई, कुलीनता और विवेक, पुरुष में उसी समय तक रहते हैं जब तक उसके अन्तःकरण में पाप रूपी कामाग्नि नहीं जलती है ।

अर्थात् अन्तःकरण में ज्यों ही कामरूपी आग जलती है त्यों ही वह महत्वादि गुणों के समूह को जला देती है। इसलिए ऐसी शत्रुरूपी अग्नि हृदय में प्रवेश हो-जले, इसके पहिले ही पुरुष को चाहिये कि वह उसकी खराबियों का विचार कर शम, दमरूपी जल के प्रवाह से उसे शान्त कर दे।

दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जग—
त्यन्धः पुरोऽवस्थितं ।
कामान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन्
यन्नास्ति तत्पश्यति ॥
कुन्देन्दीवरपूर्णचंद्र कलश,

श्रीमत्प्रतापल्लवा—
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमा,
गात्रेषु यन्मोदते ॥३॥

भावार्थ—जगत में अंधा आदमी उसके सामने की चीज़ को भी-जो दिखाई दे सकती है-नहीं देख सकता है। मगर कामांध पुरुष तो जो वस्तु होती है उसको न देखकर जो नहीं होती है उसे देखते हैं। जैसे कामांध पुरुष अपनी प्रिया के अशुचि के समूहरूप शरीर पर मोगरे का फूल, कमल, पूर्णचंद्र, कलश और शोभावाली लताओं के पत्तों का आरोपकर प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य यह है कि अंध पुरुष कर्म के दोष से चक्षु के अभाव में, अपने सामने की चीज को भी नहीं देख सकता है। और नहीं देखने के कारण स्पर्श के द्वारा उसे जैसा ज्ञान होता है वैसा ही बताता है। मगर उससे वह हँसी का पात्र नहीं बनता है। यानी लोग उसकी दिल्लगी नहीं करते हैं।

परन्तु कामान्ध पुरुष तो अपनी चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा हरेक वस्तु को उसके गुण दोषों के साथ देख सकता है, तो भी जिसके बारह द्वारों से निरंतर नगर की गटर की तरह

अशुचिका प्रवाह बहा करता है ऐसी अपवित्र स्त्रियों को पवित्र रूप में देखता है। जिनका एक भी अवयव पवित्र नहीं है ऐसी स्त्रियों की आंखों को कमल की, मुख को पूर्ण चंद्र की, ललाट को अर्द्धचंद्र की, कीकीको तारा की, भ्रकुटि को धनुष की, मुख के श्वास को कमल की सुगंध की, वाणी को अमृत की, स्तन को स्वर्ण कलश की, जांघों को कदली की और गति को गज की उपमा देते हैं।

वास्तव में जिनकी उपमा दी जाती है उनका अल्पांश भी स्त्रियों के अवयवों में नहीं होता है। सो भी मोहवश कामी पुरुष उनमें श्रेष्ठ पदार्थों का आरोपकर अपवित्र को पवित्र मान आनंद मानते हैं। ऐसे पुरुषों को जन्मांध से भी खराब मानने में कोई दोष नहीं है। कारण जो अनन्त आत्मिक सुख को भूल, थोड़े सुख के लिये असत्कल्पनायें कर अपने पवित्र आत्मा को कर्म द्वारा मलिन करता है। ऐसे कामांध से अधिक अंधा दूसरा कौन हो सकता है?

नान्यः कुतनयादाधि—
व्याधिर्नान्यः क्षयामयात् ॥
नान्यः सेवकतो दुःखी,
नान्यः कामुकतोऽन्यलः ॥४॥

श्रीमल्लतापल्लवा—
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमा.
गात्रेषु यन्मोदते ॥३॥

भावार्थ—जगत में अंधा आदमी उसके सामने की चीज़ को भी-जो दिखाई दे सकती है-नहीं देख सकता है। मगर कामांध पुरुष तो जो वस्तु होती है उसको न देखकर जो नहीं होती है उसे देखते हैं। जैसे कामांध पुरुष अपनी प्रिया के अशुचि के समूहरूप शरीर पर मोगरे का फूल, कमल, पूर्णचंद्र, कलश और शोभावाली लताओं के पत्तों का आरोपकर प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य यह है कि अंध पुरुष कर्म के दोष से चक्षु के अभाव में, अपने सामने की चीज को भी नहीं देख सकता है। और नहीं देखने के कारण स्पर्श के द्वारा उसे जैसा ज्ञान होता है वैसा ही बताता है। मगर उससे वह हंसी का पात्र नहीं बनता है। यानी लोग उसकी दिल्लगी नहीं करते हैं।

परन्तु कामान्ध पुरुष तो अपनी चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा हरेक वस्तु को उसके गुण दोषों के साथ देख सकता है, तो भी जिसके बारह द्वारों से निरंतर नगर की गटर की तरह

अशुचिका प्रवाह बहा करता है ऐसी अपवित्र स्त्रियों को पवित्र रूप में देखता है। जिनका एक भी अवयव पवित्र नहीं है ऐसी स्त्रियों की आंखों को कमल की, मुख को पूर्ण चंद्र की, ललाट को अर्द्धचंद्र की, कीकीको तारा की, भ्रकुटि को धनुष की, मुख के श्वास को कमल की सुगंध की, वाणी को अमृत की, स्तन को स्वर्ण कलश की, जांघों को कदली की और गति को गज की उपमा देते हैं।

वास्तव में जिनकी उपमा दी जाती है उनका अल्पांश भी स्त्रियों के अवयवों में नहीं होता है। तो भी मोहवश कामी पुरुष उनमें श्रेष्ठ पदार्थों का आरोपकर अपवित्र को पवित्र मान आनंद मानते हैं। ऐसे पुरुषों को जन्मांध से भी खराब मानने में कोई दोष नहीं है। कारण जो अनन्त आत्मिक सुख को भूल, थोड़े सुख के लिये असत्कल्पनायें कर अपने पवित्र आत्मा को कर्म द्वारा मलिन करता है। ऐसे कामांध से अधिक अंधा दूसरा कौन हो सकता है?

नान्यः कुतनयादाधि—
व्याधिर्नान्यः क्षयामयात् ॥
नान्यः सेवकतो दुःखी,
नान्यः कामुकतोऽन्धलः ॥४॥

भावार्थ--सदृपलन पुत्र के समान दूसरी कोई व्याधि (मानसिक दुःख) नहीं है; क्षयरोग के समान दूसरा रोग नहीं है; सेवक के समान दूसरा कोई दुखी नहीं है और कामी पुरुष के समान दूसरा कोई अंधा नहीं है।

क्रोध।

अब क्रोध का वर्णन किया जाता है। दूसरे अथवा अपने दुःख का विचार किये बिना नाराज़ होना क्रोध है। यह चंडकोशिक आदि की तरह दुर्गति का हेतु होता है। इस लिए महात्मा पुरुषों ने उपदेश दिया है कि क्रोध करना अनुचित है। कहा है कि--

> सन्तापं तनुते भिनत्ति विनयं,
> सौहृदमुत्सादय-
> त्युद्वेगं जनयत्यवद्य वचनं,
> सूते विधत्ते कलिम्।
> कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति,
> व्याहन्ति पुण्योदयं।
> दत्ते यः कुगतिं सहातुमुचितो,
> रोषः सदोषः सताम्॥४॥

शब्दार्थ—जो क्रोध सन्तापका विस्तार करता है, विनय को नाश करता है। सुहृदय को उच्छेद करता है, उद्वेग को जन्म देता है, पाप के वचन सुलाता है, क्लेश को धारण करता है, कीर्ति को काट डालता है, दुर्मति को देता है, पुण्य के उदय का हनन करता है और कुगति को देता है, उस दोषयुक्त क्रोध को त्याग कर देना ही सत्पुरुषों के लिए उचित है।

अपनेयमुदेतु मिच्छता,
तिमिरं रोषमयं धियापुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः,
प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते ॥६॥

भावार्थ—जिनको अपनी उन्नति की इच्छा है उन मनुष्यों को चाहिए कि, वे पहले बुद्धिपूर्वक क्रोधरूपी अंधकार को नाश कर दें। क्योंकि रात्रि के किये हुए अंधकार के प्रभाव से सूर्य भी उदय नहीं होता है। अर्थात् जैसे अंधकार से ढकी हुई हरेक चीज प्रकाशित नहीं होती है—नहीं दीखती है वैसे ही जो पुरुष क्रोधरूपी अंधकार से ढके हुए हैं, वे कभी भी अपने गुणों को प्रकाश में नहीं ला सकते हैं—उन्नति नहीं कर सकते हैं। इसलिए आत्मगुण प्रकट करने की इच्छा

रखनेवाले पुरुषों को, कोप का कारण मिलने पर भी कोप नहीं करना चाहिए; गुस्से को हर तरह से रोकना चाहिए। ऐसा करने से क्रोधरूपी अंधकार का पर्दा हट जायगा और पवित्र-आत्मगुण सरलता से प्रकाश में आयेंगे।

जितरोषरया महाधियः
सपदि क्रोधजितो लघुर्जनः।
विजितेन जितस्य दुर्मते-
र्मतिमद्भिः सह का विरोधिता ॥७॥

भावार्थ—बड़े आदमी-विशाल बुद्धिवाले मनुष्य क्रोध के वेग को जीत लेते हैं, यानी अपने बुद्धिबल से क्रोध को दबा देते हैं और छोटे आदमी थोड़ी अकलवाले मनुष्य को क्रोध जीत लेता है। सच है कि विजेता यानी बलवान के साथ मंदमति का यानी निर्बल हृदयवाले का और बुद्धिमान यानी अपनी इन्द्रियों पर जो काबू रख सकता है उसके साथ बुद्धिहीन यानी जो अपनी इन्द्रियों पर काबू नहीं रख सकता है ऐसे मनुष्य का क्या मुकाबिला हो सकता है? अभिप्राय यह है कि जो क्रोध बुद्धिमान मनुष्य के विचार बल के सामने नहीं टिक सकता है, हार ही जाता है, वही क्रोध निर्बल मन वालों को जीत लेता है। विरोध तो समान

बलवालों के साथ ही टिकता है। न्यूनाधिक बलवालों का विरोध ज्यादा समय तक नहीं टिकता। जो बलवान होता है वह जीतता है और, निर्बल होता है वह हारता है।

वृक्ष से जो ज़हर उत्पन्न होता है वह कभी वृक्ष को नहीं मारता, सर्पसे जो ज़हर पैदा होता है वह कभी सर्प के प्राण नहीं लेता; मगर यह क्रोधरूपी ज़हर तो जिस से जन्मता है उसी को पहले मारता है। यह कैसा हलाहल–महान विष है ?

लोभ।

अब लोभ का वर्णन किया जाता है। दान देने योग्य पुरुषों में अपने धनको न खर्चना और बिना कारण दूसरों के धनको ले लेना लोभ है। सारे पापों का मूल लोभ समझा जाता है। सोभानन्दी आदि वनियों के सारे पापों का मूल यह लोभ ही था। इसलिये लोभ न करके सन्तोष रखना चाहिए। लोभ से घबराये हुए मनुष्य इस तरह विचार करते हैं–

लोभ हमेशा चिन्तन करने योग्य है; मगर लोभी पुरुषों से तो हमेशा भय रहता है। कारण, लक्ष्मी के अंदर लुब्ध पुरुषों में कार्याकार्य का विवेक बिलकुल नहीं होता है। इस लिए यह संभव है कि लोभ के वश में होकर वे दूसरों की

हानि करें। माया, अपलाप, चीजें बदल लेना, भ्रांति और कपट करने का मूल कारण, संग्रह करने में दुष्ट पिशाचरूप और सर्वस्व हरण करनेवाला लोभ ही है। लेने देने में अधिक कम तोल-माप रख, लाघव क्रिया फेंकना और खाने के बहाने से ये दिनके चोर बनिए, महाजन होते हुए भी, सचमुच ही चोरी किया करते हैं। अपने वचन चातुर्य से दिन भर लोगों के धनका हरण करते हैं लेकिन घरके काम में भी खर्चने के लिए तो केवल तीन पैसे ही देते हैं। वे प्रति दिन धर्मोपदेश सुनने जाते हैं, परन्तु दान-धर्म के समय ऐसे दूर भाग जाते हैं जैसे काले सर्प से आदमी दूर भागता है। माल देते वक्त धूर्त बनिया कभी किसी से बात भी नहीं करता मगर जब कोई थापण-अमानत रखने आता है तब उससे ऐसे बातें करने लगता है मानों वह उसका बहुत बड़ा हितेच्छु है। यहां एक कथा कही जाती है। एकबार एक आदमी एक बनिये के यहां अपना धन रखने गया-बनिये ने मीठे शब्दों में कहाः-" यह घर तुम्हारा ही है; परन्तु बहुत दिनों तक अमानत सँभाल के रखना कठिन है। देशकाल कठिन है तो भी हे भले भाई! मैं तुम्हारा सेवक हूं। अमानत को सुरक्षित रखने वाली हमारी दुकान के समान दूसरी दुकान नहीं है। इसकी सभी प्रशंसा करते हैं। आज तक हमारी दुकान पर कभी कलंक

नहीं लगा है। आप तो यह बात भली भांति जानते ही हैं। आदि।

वह आदमी बनिए को धन देकर तीर्थयात्रा के लिए चला गया। बनिए ने बड़े आनन्द और उत्साह के साथ मलिन भावों सहित धन ग्रहण किया। वह धन उसने व्यापार में लगाया। व्यापार खूब चमका। बनिया मालामाल होगया। वह धनके मदमें कुबेरकी भी उपेक्षा करता हुआ संसाररूपी पुराने घरमें आये हुए बड़े चूहे की तरह धनकी रक्षा करने लगा।

वह पुरुष जो भावी के कारण जन धन हीन हो गया था, अनेक वर्षों के बाद भटकता हुआ वापिस अपने नगर में आया। वहां आकर देखता है कि, वहां न बनिये की दूकान है और न उसका टूटा फूटा घर ही। अमानत रखनेवाले को आश्चर्य हुआ कि यह आलीशान हवेली कैसे बन गई? उस बनिये का क्या हुआ और वह कहां गया? उसने किसी पड़ौसी से पूछा। उसने जवाब दिया कि,-वह बनिया तो अब बहुत बड़ा धनवाला होगया है। उसी ने अपने पुराने मकान की जगह यह अलीशान हवेली बनाई है।

वह पुरुष सिर धुनता हुआ सेठ के दर्वाजे पर गया। फटे पुराने कपड़े पहने हुए उसको भिखारी समझ दर्वानों ने

उसे अंदर आने से रोका। बड़ी कठिनता से वह बनिये के पास पहुंच सका। एकान्त होने पर उसने अपना नाम पता बताया और अपनी अमानत वापिस मांगी।

बनिया बड़ा नाराज हुआ और अपने नौकर की तरफ़ देखता हुआ बोला—"ठग, लुच्चा और आजीविकाहीन यह आदमी कहां से आया है ? [उसकी तरफ देखकर] तू कौन है ? मैं नहीं जानता। आज से पहले मैंने तो कभी तुझे देखा तक नहीं है। बड़े अफसोस की बात है कि तू बे मतलब ही मुझपर दोष लगाता है। तू कब, कौनसी मिती, किस साल, किस जगह और किसके सामने मुझे अमानत सौंप गया था ? यद्यपि तेरी कोई हैसियत नहीं है तथापि अपनी भलमनसाहत से तुझे इजाज़त देता हूं कि तू उस सालकी मेरी बहियां देखले जिस साल में तू मुझे अमानत सौंपने की बात करता है। मैं बूढ़ा हो गया हूं। दूकान का काम काज मेरा लड़का करता है। उसके पास जा।"

वह पुरुष बनिये के लड़के के पास गया उसने कहा:— "मैं कुछ नहीं जानता। तेरे नाम की कोई अमानत हमारे यहां जमा नहीं है।"

विचारा वापिस बनिये के पास गया और बनिये ने अपने छोकरे को बताया। वह गरीब अनेक दिनों तक धक्के खाता रहा; परन्तु उसे एक पाई भी बनिये ने न दी।

बनिया यों अधर्म करके मरा मगर उसने यह तक न सोचा कि,—'द्रव्य किसको प्यारा नहीं होता है? द्रव्य से किसके दिल में लालच नहीं पैदा होता है? मगर जिन पुरुषों को यशरूपी धन प्यारा होता है वे कभी दगे से धनी बनने की इच्छा नहीं करते हैं। जो पुरुष अपना सदाचार छोड़ कुटिल बुद्धि से दूसरे को ठगता है वह मूढ़ पुण्यहीन अपने आत्मा ही को ठगता है। खेद है कि धन के लोभ में पड़कर बुद्धिमान भी अकार्य कर डालता है। यानी वह नहीं करने के काम भी कर डालता है। वह नीच पुरुषों की खुशामद करता है, शत्रु को भी नमस्कार करता है, गुणहीन का उच्च गुणी की तरह गुणगान करता है, उपकार को भूल जाने वाले कृतघ्नी की सेवा करने में भी वह कभी नहीं हिचकता, द्रव्य खर्च हो जाने के भय से मित्रों से दूर रहता है, बदला देना पड़ेगा इस ख़याल से वह किसी की सेवा ग्रहण नहीं करता यानी किसी को अपनी सेवा नहीं करने देता। कुछ देना पड़ेगा यह सोचकर अपने आपको ग़रीब

बताता है। कोई कितनी ही प्रशंसा करे; परन्तु यह उस पर खुश नहीं होता। लक्ष्मी कहीं खर्च न हो जाय, इस चिन्ता में डूबा हुआ लोभी कब तक जीता रह सकता है? बड़े लाभ से भी लोभ नहीं मिटता है।

अतः मनुष्यों को अति लोभ से दूर रहना चाहिये और उचित दान-पुण्य करना चाहिये।

मान।

अपना अत्यंत आग्रह न छोड़ना अथवा दूसरे की उचित बात को भी न मानना मान है। तत्त्वातत्त्व का विचार नहीं करने वाले कदाग्रही पुरुषों की, दुर्योधनादि की तरह यह मान बहुत ही हानि करता है। कहा है कि—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं,
तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपात रहितस्य तु युक्ति-
र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥६॥

भावार्थ—आग्रही पुरुष की मति जिस जगह होती है उसी जगह वह युक्ति को भी ले जाना चाहता है। मगर

पक्षपात रहित मनुष्य की मति तो उसी जगह स्थिर होती है जिस जगह युक्ति होती है। अर्थात आग्रही पुरुषों को जिस पदार्थ में आग्रह होता है उसी में ये युक्ति को जबर्दस्ती बिठा देते हैं; और पक्षपात रहित मनुष्य युक्ति से जो वस्तु स्वरूप ठीक होता है उसी में अपनी बुद्धि स्थिर करते हैं, उसी को ठीक मानते हैं।

औचित्याचरणं विलुम्पति पयो-
वाहं न भस्वानिव,
प्रध्वंसं विनयं नयात्यहिरिव
प्राणस्पृशां जीवितम्।
कीर्तिं कैरविणीं मतंगज इव
प्रोन्मूलयत्यञ्जसा,
मानो नीच इवोपकारनिवहं
हन्ति त्रिवर्गं नृणाम् ॥१॥

अर्थ—पवन जैसे बादलों को बिखेर देता है वैसे ही अहंकार उचित आचरणों को लोप कर देता है। अहंकार प्राणियों के जीवनरूपी विनय को सर्प की तरह नाश कर देता है; कीर्तिरूपी कमलिनी को हाथी की तरह एक दम उखाड़ डालता है; और नीच मनुष्य की तरह त्रिवर्गरूपी उपकार के समूह को नाश कर देता है।

अभिप्राय यह है कि जिस के हृदय में अहंकाररूपी शत्रु का वास होता है उसके हृदय में से विनयादि गुण नष्ट हो जाते हैं। यह वास्तविक बात है। कारण—जिस स्थान के लिए झगड़ा होता है उस स्थान को सज्जन पुरुष क्षण भरमें ही छोड़ देते हैं और निरुपाधि स्थान में आश्रय लेते हैं।

> दृग्भ्यां विलोकते नोर्ध्वं,
> सप्ताङ्गैश्च प्रतिष्ठितः।
> स्तब्धदेहः सदा सोष्मा,
> मान एव महागजः ॥१०॥

अर्थ—सातों अंगों से स्थिर अकड़ा हुआ शरीर वाला और हमेशा गरमी से भरा हुआ अहंकार रूपी मदोन्मत्त हाथी ऊंचा भी नहीं देख सकता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे हाथी पैर, छाती आदि सातों अंगों से स्थिर होने के कारण एवं अकड़ा हुआ होने से ऊँचा भी नहीं देख सकता है इसी तरह यानी पुरुष भी जाति, कुल, रूप ऐश्वर्य आदि मदों से घिरा हुआ अकड़े हुये शरीर-वाला और मान की गरमी से मस्त होने के कारण आंख उठा कर ऊंचा देखने में भी असमर्थ हो जाता है।

मान के छूटने ही से बाहुबली महर्षि की तरह केवल- ज्ञान उत्पन्न होता है । इसलिये आत्महित की इच्छा रखने वाले विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह मान का त्याग ज़रूर करे।

मद।

अब मद का वर्णन किया जाता है । बल, कुल, ऐश्वर्य, रूप और विद्यादि का अहंकार करना यानी इनके बल दूसरों को दबाने का नाम मद है ।

मदरूपी शत्रु सभी मनुष्यों के हृदय में वास करता है। इसके वश में पड़ा हुआ मनुष्य न देख सकता है, न सुन ही सकता है । हमेशा आवेश में अकड़ा हुआ रहता है। यानी वास्तविक पदार्थ देखने और सुनने में यह बाधक होता है; इसलिए मनुष्य जाति का वास्तविक शत्रु यही है ।

मौन धारण करना, दूसरों की तरफ से मुंह फेर लेना, ऊपर देखना, आंखें बंद कर लेना, शरीर को मोड़ना, ये सारे मद ही के लक्षण हैं। इन चेष्टाओं से तत्काल ही मालूम हो जाता है कि यह मनुष्य अहंकारी है। शौर्यमद, रूपमद, शृंगारमद और उच्च कुल का मद ये सारे वैभव-

किं मायान्ति विपश्चितोऽपि द्विपुधा,
विद्यालवाद्यैर्गुणैः ॥११॥

भावार्थ--जब विद्वान पुरुषों ने बुढ़ापे को जीत कर स्वभावतः मनोहर यौवन का आस्वादन नहीं किया, यम को जीत कर अपने शरीर को कल्पांत तक स्थिर न बनाया और अपने वैभव से इस जगत को दरिद्रतारूपी सर्प के मुख से भी नहीं छुड़ाया तब वे विद्यादि स्वल्प गुणोंसे क्यों अहंकार करते होंगे ? मतलब यह है कि मनुष्य जब अभिमान करने योग्य एक भी काम नहीं कर सकते हैं तब वे व्यर्थ ही क्यों अभिमान करते हैं ?

दिग्वासाश्चन्द्रमौलि,-र्वहति रविरयं,
वाह्वैषम्यकष्टं ।
राहोरिन्दुश्शंका, निवहति गरुडा-
न्नागलोकश्च भीतः ॥
रत्नानां धाम सिन्धुः, कनकगिरिरयं,
वर्त्ततेऽद्यापि मेरुः ।
किं दत्तं रक्षितं किं ? ननु किमिह जग-
त्यर्जितं येन गर्वः ॥१२॥

अर्थ—महादेव दिशारूपी कपड़ों को धारण करता है,

सूर्य अश्वों की विषमता (एकी को विषम कहते हैं) का दुःख भोगता है चन्द्रमा राहु की शंकासे शंकित रहता है नागलोक गरुड़ से भयभीत रहता है; समुद्र रत्नों का घर है और यह मेरु पर्वत भी अब तक स्वर्ग से पर्वत की तरह मौजूद है तो फिर हे मनुष्यो ! क्या तुमने कुछ दान किया है ? क्या किसी की रक्षा की है ? क्या इस जगत में कुछ पैदा किया है कि जिसके कारण तुम अहंकार धारण करते हो ?

भर्तृहरि कहता है—

> पातालान्न समुद्धृतो बत ? बलि-
> नीतो न मृत्युः क्षयं;
> नोन्मृष्टं शशिलाञ्छनस्य मालिनं,
> नोन्मूलिता व्याधयः ॥
> शेषस्यापि धरां विधृत्य न कृतो,
> भारावतारः क्षणम् ।
> चेतः सत्पुरुषाभिमान गणनां,
> मिथ्या वहल्लज्जसे ॥१२॥

अर्थ—अफसोस ! जब पाताल से राजा बलि का उद्धार नहीं किया, मौत का नाश नहीं किया, चंद्रमा का मलिन लांछन नहीं मिटाया, रोगों को उखाड़ कर नहीं फेंका और

पृथ्वी को धारण कर एक क्षण के लिए भी शेषनाग का भार न उतारा तब हे चित्त ! तू सत्पुरुषों के अभिमान की गणना को वहन करता हुआ व्यर्थ ही क्यों लज्जित होता है ?

हर्ष।

अब हर्ष का वर्णन किया जाता है। बिना प्रयोजन दूसरों को दुःख देने से, अथवा शिकार, जुआ आदि अनाचार का सेवन करने से अन्तःकरण में जो प्रमोद-आनंद उत्पन्न होता है उसे हर्ष कहते हैं। यह हर्ष दुर्ध्यान युक्त हृदय वाले अधम पुरुषों के लिये ही सुलभ होता है। उत्तम पुरुषों को तो कर्म-बंधन के कारण भूत कार्य में किसी भी समय हर्ष नहीं करना चाहिये। पाप के कामों में आनंदित होने से निकाचित कर्म का बंध होता है और उसका फल भोगना ही पड़ता है। अनाचार में आनंद मानना अधम पुरुषों ही का काम है : कहा है कि—

परवसणं अभिनंदइ,
निरवक्खो निद्दओ निरणुतावो।
हरिसिज्जइ कयपावो,
रुद्दज्झाणोवगयचित्तो ॥१३॥

अर्थ—पापादि की कुछ परवाह न रखने वाला और पश्चात्ताप नहीं करने वाला निर्दय पुरुष दूसरों के कष्ट को अच्छा समझता है और रौद्र ध्यान चित्तवाला पाप करके खुश होता है।

तुष्यन्ति भोजनैर्विप्रा,
मयूरा घनगर्जितैः।
साधवः परकल्याणे;
खलाः परविपत्तिभिः ॥१३॥

अर्थ—ब्राह्मण भोजन से, मोर मेघ की गर्जना से, सज्जन दूसरों के कल्याण से और दुर्जन-दुष्ट दूसरों की आपत्ति दुःख से प्रसन्न होते हैं।

ऊपर बताये हुये कामादि अन्तरंग शत्रु निंदनीय होने से, अपयश एवं अनर्थों का मूल होने से और परलोक में दुर्गति का कारण होने से विवेकी पुरुषों को इन्हें छोड़ देना चाहिये।

अब ग्रंथकार महर्षि प्रस्तुत ग्रन्थ की समाप्ति करते हुये अन्तरंगारि का त्याग करने वाले को मुख्य फल बताते हैं,—

आन्तरंपडरिवर्गमुदग्रं,
यस्त्यजेदिह विवेक महीयान्।

धर्मकर्मसुयशः सुखशोभाः,
सोऽधिगच्छति गृहाश्रमसंस्थः ॥१४॥

अर्थ--जो महाविवेकी पुरुष प्रचंड आन्तरिक षड्रिवर्ग का त्याग करता है वह गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी धर्मकार्य सुकीर्ति सुख और शोभा प्राप्त करता है। अर्थात जो मनुष्य मानसिक दुर्वृत्तियों से बचता है वह सब जगह प्रतिष्ठा पाता है और इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है।

पैंतीसवां गुण।

अब पैंतीसवें गुण 'इन्द्रियों का वश में करना' का वर्णन किया जाता है।

इन्द्रियों को स्वच्छंदता से नहीं विचरने देना यानी इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न होना-फंस न जाना 'इंद्रियों को वश करना' कहलाता है। और जो ऐसा करता है वह 'वशीकृतेन्द्रियग्रामः' यानी इन्द्रियों को वश करने वाला कहलाता है। स्पर्शनादि इन्द्रियों के विकारों को जो रोध करता है वही गृहस्थ धर्म के योग्य होता है। सचमुच इंद्रियों का जय करना ही पुरुषों के लिए उत्कृष्ट संपत्ति का कारण होता है। कहा है कि---

आपदां कथितः पन्था,
इन्द्रियानामसंयमः ।
तज्जयः संपदां मार्गो,
येनेष्टं तेन गम्यतां ॥१॥

अर्थ—इन्द्रियों का असंयम-स्वच्छंदता आपत्ति का मार्ग है और इन्द्रियों का जय करना सम्पत्ति प्राप्ति का मार्ग है। इसलिए जिसको जो इष्ट हो उसको उसी रस्ते जाना चाहिये।

इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं,
यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि
स्वर्गाय नरकाय च ॥२॥

अर्थ—नरक और स्वर्ग दोनों ये इन्द्रियां ही हैं इनको वश में करना या इन्हें स्वच्छंद रखना स्वर्ग और नरक का कारण है।

अर्थात्—जो जितेन्द्रिय होता है इन्द्रियाँ जिसके वश में होती हैं वह अवश्यमेव स्वर्ग में जाता है और जो इन्द्रियों का दास होता है; जिसकी इन्द्रियां स्वच्छंदता पूर्वक फिरती

हैं वह मर कर नरक में जाता है और वहां भयंकर दुःख भोगता है ।

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं,
गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणानुरागेण जनोऽनुरज्यते,
जनानुरागः प्रभवा हि संपदः ॥३॥

अर्थ—जितेन्द्रियता विनयका कारण है, विनय से गुणों की अभिवृद्धि होती है, गुणानुराग से लोग प्रसन्न होते हैं और लोगों के प्रसन्न होने से संपत्ति मिलती है ।

युद्ध में प्राप्त जय की अपेक्षा भी इन्द्रिय जय बड़ा समझा जाता है । इसीलिए इन्द्रियों का जीतना बहुत कठिन माना जाता है । कहा है कि—

सौ मनुष्यों में एक बहादुर, हजार में एक पंडित और लाखों में एक वक्ता होता है । मगर दानी तो होता भी है और नहीं भी होता, यानी दानी होना अति दुर्लभ है । न युद्ध में जीतने से कोई वीर कहलाता है और न विद्या पढ़ने से कोई पंडित होता है, न वाक् चातुरी से, अपने मीठे वचनों से हजारों लोगों को खुश करने वाला वक्ता कहलाता है और न कुछ धन दे देने ही से दानी कहलाता है । वास्तव

में इन्द्रियों को जीतने से बहादुर, धर्म का सेवन करने से पंडित, सत्य बोलने से वक्ता और भयभीत प्राणियों को अभयदान देने से दानेश्वरी कहलाता है।

इन्द्रियों के आधीन होकर मनुष्य पापों का सेवन करता है और इन्द्रियों को अपने आधीन करके मनुष्य क्रमशः सिद्धि प्राप्त कर लेता है। मनुष्य का शरीर रथ है; आत्मा नियंता-सारथि है और इन्द्रियां घोड़े हैं। ये बड़े ही चपल हैं। इनको सावधानी के साथ जो अपने काबू में रख कर चलाता है वह सुखपूर्वक धीर पुरुष की तरह इच्छित स्थान पर पहुँच जाता है।

चक्षु इन्द्रिय को जीतने के लिए लक्ष्मण का उदाहरण प्रसिद्ध है। जब सीताजी का हरण हुआ था और उनकी शोध करते समय रामचंद्रजी को कुंडल, कंकन आदि आभूषण मिले थे तब रामचंद्रजीने पूछा थाः—'ये आभूषण सीताजी ही के हैं न?' लक्ष्मणजी ने जवाब दियाः—'मैंने कभी ऊपर की तरफ नहीं देखा इसलिए दूसरे आभूषण नहीं पहचानता। मैं मात्र उनके झांझर पहचानता हूं।'

सारी इन्द्रियों को जीतने की मुख्य चाबी जिह्वा-इंद्रिय का विजय है। यह उचित आहार और संभाषण से हो

सकती है। किसी की निंदा नहीं करना चाहिए और प्राणों की रक्षा और श्रेष्ठ क्रियाओं में प्रवृत्ति करने ही के लिये आहार करना उचित है। कहा है कि,—

आहारार्थं कर्म कुर्यादनिंद्यं,
भोज्यं कार्यं प्राणसंधारणाय।
प्राणा धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनाय,
तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात् ॥४॥

अर्थ—आहार के लिए अनिंद्य काम करना चाहिये, भोजन प्राण धारण के लिये करना चाहिये, प्राण तत्वों को जानने के लिये धारण करने चाहिये और तत्त्व इसलिये जानना चाहिये कि फिर जन्म ही न लेना पड़े।

परिमाण से अधिक आहार लेने से नये नये मनोरथों की वृद्धि व प्रबल निद्रा का उदय होता है। निरन्तर अशुचिता बढ़ती है शरीर के अवयवोंमें गुरुता आती है, सारी क्रियाएं छूट जाती हैं, और प्रायः लोग रोगी हो जाते हैं। इसलिए रसना-इन्द्रिय को हमेशा अतृप्त ही रखना चाहिये। रसना-इन्द्रिय अतृप्त रहती है तो दूसरी इन्द्रियां अपने अपने कार्यों में लगी रहने से तृप्त ही गिनी जाती हैं। कहा है कि—

यत्तत्क्रिया हि काव्येन,
काव्यं गीतेन बाध्यते ।
गीतं च स्त्रीविलासेन,
स्त्रीविलासो बुभुक्षया ॥५॥

अर्थ—हरेक क्रिया काव्य से, काव्य गीत से, गीत स्त्रियों के विलास से और स्त्रियों का विलास भूख से दब जाते हैं। यानी क्रमशः एक दूसरे से बलवान होने के कारण एक के सामने दूसरे का बल कम हो जाता है।

जिह्वा-इन्द्रिय तृप्त होती है तो दूसरी सभी इन्द्रियां अपने विषय की तृप्ति के लिये उत्सुक रहती हैं, इसलिये वे सभी अतृप्त ही समझी जाती हैं। वचन की व्यवस्था की भी नियमितता होनी चाहिये। इसके लिए कहा है कि—

महुरं निउणं थोवं,
कज्जावडियं अगव्वियमतुच्छं ।
पुव्वमइसंकलियं,
भणन्ति जं धम्मसंजुत्तं ॥६॥

अर्थ—मधुर, चतुराई वाला, थोड़ा कार्य से सम्बंध रखने वाला, अहंकारहीन, तुच्छता रहित और पहिले से

विचार किया हुआ जो कुछ बोला जाता है वही वचन धर्म-युक्त माना जाता है।

इत्यादि युक्तियों द्वारा आहारकी मर्यादासे वचनकी मर्यादा अधिक गिनी जाती है। कारण,-आहार से जो रोगादि विकार होते हैं वे तो औषधादि के प्रयोग से मिटाये जा सकते हैं; मगर वचन का विकार तो उम्र भर हृदय से दूर नहीं किया जा सकता है। इसके लिये कहा है कि—

जिह्वां प्रमाणं जानीहि,
भोजने वचने तथा।
अतिभुक्तमतीवोक्तं,
प्राणिनां प्राणनाशकम् ॥७॥

अर्थ—भोजन करने में और बोलने में जीभ को ही प्रमाण जानना चाहिये। कारण,-परिमाण से अधिक खाया हुआ और बोला हुआ जीवों के प्राणों के नाश का हेतु होता है। सचमुच ही जितेन्द्रिय पुरुष किसी से भी नहीं डरता है।

यस्य हस्तौ च पादौ च,
जिह्वा च सुनियंत्रिता।

इन्द्रियाणि सुगुप्तानि,
रुष्टो राजा करोति किम् ॥८॥

अर्थ--जिसके हाथ, पैर और जीभ काबू में हैं और जिसकी इन्द्रियां संयम में हैं उसका नाराज़ होकर राजा भी क्या कर सकता है ?

अब ग्रंथकार महर्षि प्रस्तुत गुण का उपसंहार करते हुये फल बताते हैं--

एवं जितेन्द्रियो मर्त्यो,
मान्यो मानवतां भवेत् ।
सर्वत्रास्खलितो धर्म-
कर्मणे चापि कल्पते ॥९॥

अर्थ--इस तरह जितेन्द्रिय मनुष्य मान वाले मनुष्यों को भी आदरणीय होते हैं और सब जगह चलित न होते हुये धर्म कार्य में भी योग्य होते हैं ।

उपसंहार ।

अब ग्रंथकार महर्षि श्राद्ध गुण विवरण ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कुछ अधिक बताते हैं---

सब तरह से इन्द्रियों को वश में करना तो यतियों-मुनियों का धर्म है । यहां तो श्रावक धर्म के गृहस्थ के स्वरूप का कथन होने से उपर्युक्त बातें कही गई हैं । इस तरह के विशेष धर्म की शोभा को पुष्ट करने वाले सामान्य गुणों [न्याय संपन्न विभवादि] से बड़ा हुआ मनुष्य अवश्यमेव गृहस्थ धर्म के यानी सम्यक्त्वमूल बारह व्रत रूप विशेष धर्म के लिये अधिकारी माना जाता है । 'गृहिधर्माय कल्पते' यह वाक्य हरेक गुण के साथ संबंध रखता है इसलिए जहां न हो वहां भी जोड़ देना चाहिये ।

य एवं सेवन्ते सुकृतमतयः शुद्धमतयो,
विशेषश्रीधर्मा-भ्युदयदमिमं सद्गुणगणम् ।
स सम्यक्त्वं धर्मं व्रत परिगतं प्राप्य विशदं,
श्रयन्ते ते श्रेयः पदमुदयदैश्वर्यसुभगाः ॥१॥

अर्थ---पुण्य में प्रीति रखने वाले और शुद्ध बुद्धि वाले जो मनुष्य विशेष धर्म के देने वाले [ऊपर बताये हुए ३५] श्रेष्ठ गुण समूह को उपर्युक्त प्रकार से सेते हैं वे उन्नत और ऐश्वर्य वाले भाग्यवान हो, सम्यक्त्व सहित निर्मल बारह व्रत रूप श्रावक धर्म को प्राप्त कर मोक्ष पद पाते हैं ।

प्रशस्ति ।

तपागच्छ की आदि में तीन लोक के पूज्य और प्रशस्त ज्ञान तथा क्रिया वालों के अंदर अग्रगण्य मुख्य जगतचंद्र सूरि हुये ।

उनके पाट पर गौतम स्वामी के समान प्रभाव वाले श्रीदेवेन्द्रसूरि हुये । उनके बाद युग के अंदर उत्तम श्री विद्यानंद गुरु प्रगटे ।

फिर जगत को विस्मय में डालने वाले श्रीधर्मघोषसूरि हुए । उनके पीछे सूरियों में प्रधान श्रीसोमप्रभसूरि हुये।

तत्पश्चात सत्पुरुषों के लिये कल्प वृक्ष के समान और ज्ञान रूपी लक्ष्मी वाले श्रीसोमतिलक गुरु हुये फिर अति कीर्ति प्राप्त देवेंद्रसूरि हुये ।

उनके शिष्य युग में उत्तम, पृथ्वी पर प्रसिद्ध और जगत में अत्यंत सौभाग्य वाले श्रीसोमसुंदरसूरि हुये।

उनके आत्मज्ञ आत्मा को जानने वाले शिष्य श्रीजिन-मंडन गणि ने श्रुतभक्ति से श्रावकों के गुणों की श्रेणी के संग्रह रूप इस ग्रंथ की रचना की।

अणहिलपुर पाटन में अनेक शास्त्रों का सार संग्रह कर चौदहसौ अठानवे [१४६८] के साल में बनाया हुआ यह ग्रंथ चिरकाल तक स्थिर रहे।